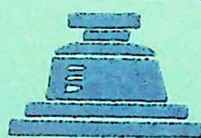
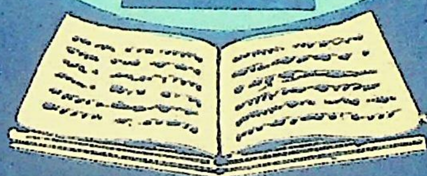
हिन्दी सतसई परम्परा में

दयाराम सतसई





आचार्य रघुनाथ भट्ट

हिन्दी सतसई परम्परा में

दयाराम सतसई

आचार्य रघुनाथ भट्ट
एम० ए०, साहित्याचार्य



हिन्दी साहित्य परिषद
अहमदाबाद

HINDI SATSAI PARMPARA MEN DAYARAM SATSAI

by Raghunath Bhatt

प्रकाशक—हिन्दी साहित्य परिषद, अहमदाबाद
लेखक—आचार्य रघुनाथ भट्ट
संस्करण—दूसरा, 1989
मूल्य—पुस्तकालय संस्करण : 60.00
विद्यार्थी संस्करण : [illegible]0.00
मुद्रक—शिव प्रेस, इलाहाबाद

मुख्य वितरक

जयभारती प्रकाशन

इलाहाबाद

शुभाशंसा

'हिन्दी सतसई परम्परा में दयाराम सतसई' आचार्य रघुनाथ भट्ट की दयाराम सतसई पर लिखी गई बोधवर्धक समीक्षा है।

दयाराम गुजरात के महान् कवियों में से एक हैं। उन्होंने आज से करीब दो सौ वर्ष पहले व्रजभाषा में ४७ ग्रन्थों और हजारों गेय पदों का प्रणयन किया था। इस सुकवि की व्रजभाषा-रचनाओं में 'सतसई' सर्वोत्कृष्ट है। कुछ दशक पहले तक इस रचना से हिन्दी-सेवी संसार अपरिचित था। इसीलिए न तो हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों का ध्यान इसकी ओर आकृष्ट हुआ और न ही 'सतसई-सप्तक' में इसे स्थान मिल सका। इस कृति का मेरे द्वारा सम्पादित प्रथम सटीक संस्करण आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र की भूमिका के साथ सन् १९६८ में साहित्य भवन, इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ। दूसरा छात्र-संस्करण भी वहीं से १९७९ में प्रकाश में

आया। तभी से इस कृति की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित हुआ और कुछ विश्वविद्यालयों के स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम में भी इसे समुचित स्थान मिला है।

दयाराम सतसई हिन्दी सतसई परम्परा की एक महत्वपूर्ण कड़ी है। इसमें एक ओर तो शुद्धाद्वैत और पुष्टिमार्ग का सशक्त प्रतिपादन है, दूसरी ओर इसमें काव्य-कला का भी चरमोत्कर्ष देखने को मिलता है। यह कृति भक्ति और शृङ्गार का अद्भुत अपूर्व ग्रन्थ है। इस मौलिक कृति के मर्म को उद्घाटित करने के लिए शास्त्रीय समीक्षा की आवश्यकता बनी हुई थी। इसकी पूर्ति श्री रघुनाथ भट्ट के द्वारा लिखी गई प्रस्तुत कृति से हुई। श्री भट्ट संस्कृत के आचार्य हैं। भाषा विज्ञान के भी वे अध्येता हैं। हिन्दी के स्नातकोत्तर विभाग के अध्यक्ष हैं। गुजराती भाषा एवं साहित्य में भी उनकी गहरी रुचि है। इसलिए 'सतसई' पर लिखने के लिए वे सर्वथा उपयुक्त व्यक्ति हैं। उन्होंने अत्यन्त परिश्रम से कवि श्री दयाराम के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालते हुए सतसई परम्परा में तुलनात्मक दृष्टि से दयाराम सतसई का स्थान निर्धारित किया है। विद्वान लेखक ने कवि की भक्ति-भावना, प्रेम भावना, नायिका-भेद, रूप-वर्णन, नीति, कवि के काव्य-विषयक विचार तथा भाषा-शैली का सम्यक् विवेचन किया है। मुझे विश्वास है इस समीक्षा से इस मौलिक एवं महत्व-पूर्ण ग्रन्थ के अध्ययन-अनुशीलन का पथ प्रशस्त होगा।

अम्बाशंकर नागर
आचार्य एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग
निदेशक
भाषा-साहित्य भवन
गुजरात युनिवर्सिटी
अहमदाबाद—९

भाषा-साहित्य भवन
गुजरात युनिवर्सिटी
अहमदाबाद—९
७-६-८४

• निवेदन

गुजरात में हिन्दी के प्रति एक अपनत्व रहा है। हिन्दीभाषी क्षेत्रों के बाहर रहकर भी यहाँ के सन्तों, कवियों और चिन्तकों ने हिन्दी में अपनी बात कहने में गौरव समझा है। अखा हो या भालण, ब्रह्मानन्द हो या दयाराम—सबने अपनी मातृभाषा गुजराती में साहित्य-सर्जन के साथ हिन्दी में भी उतने ही लाड़-प्यार से साहित्य-निर्माण की ओर यशस्वी प्रयास किया है। हिन्दी के प्रति निष्ठा की यह गंगा आज भी उतने ही अनाविल भाव से प्रवहमान है। वास्तव में हिन्दी को गुजरात पर गौरव है और गुजरात हिन्दी को अपनी समझता है।

गुजराती और हिन्दी में समान रूप से साहित्य-निर्माण करने वाले प्रमुख कवियों में बहुश्रुत, बहुविद्, नागरिकता में पूरे पगे हुए भक्त-शिरोमणि दयाराम सबसे आगे हैं। दयाराम ने गुण और मात्रा की दृष्टि से उत्तम काव्य प्रदान किया है। परन्तु हिन्दी संसार दयाराम और उनकी कृतियों से अपरिचित ही रहा है। केवल 'मिश्रबन्धु विनोद' में उनका विवरणात्मक उल्लेख मिलता है। अन्य इतिहास ग्रन्थ प्रायः मौन हैं। हो सकता है कि धार्मिक घेरेबन्दी में रहने के कारण या गुजरात जैसे सुदूर प्रदेश में रहने से दयाराम का हिन्दी-साहित्य प्रकाश में न आ सका हो।

इधर स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् हिन्दीतर प्रदेशों में हिन्दी के शोध-अनुसन्धान का कार्य शुरू हुआ है। गुजरात में इस कार्य को व्यवस्थित रूप देने का श्रेय सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी गुजरात विश्वविद्यालय के भाषा-भवन के निदेशक और हिन्दी विभाग के अध्यक्ष श्रद्धेय डॉ० अम्बाशंकर नागरजी को है। उन्होंने गुजरात के अनेक कवियों तथा उनके ग्रन्थरत्नों को हिन्दी-जगत् के सामने रखा है। अनेक कठिनाइयों के दौर से गुजरकर उन्होंने दयाराम कृत 'सतसई' का सुन्दर सम्पादन कर हिन्दी की अनन्य सेवा की है। दयाराम के दूसरे ग्रन्थ 'रसिक-रंजन' का भी सुसम्पादित संस्करण अभी कुछ दिन पहले डॉ० नागरजी के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुआ है।

इस तरह दयाराम की साहित्यिक कृतियाँ प्रकाश में आ रही हैं। हिन्दी संसार में उनका स्वागत हो रहा है। हिन्दी की अनुस्नातक कक्षाओं

में उन्हें नियत किया जा रहा है। परन्तु दयाराम के विषय में कोई स्वतन्त्र आलोचनात्मक पुस्तक न होने से अध्यापकों और विद्यार्थियों को इसकी आवश्यकता महसूस होने लगी। प्रस्तुत पुस्तक इस आवश्यकता की पूर्ति की दिशा में पहला कदम है।

इस अध्ययन में डॉ० नागरजी द्वारा सम्पादित 'सतसई' के पाठ को आधार माना गया है। इसमें मेरा लक्ष्य दयाराम के विषय में उपयोगी जानकारी और हिन्दी सतसई परम्परा में दयाराम सतसई को रखकर उसका आलोचनात्मक अध्ययन करना रहा है।

प्रस्तुत कार्य की प्रेरणा मुझे श्रद्धेय गुरुवर्य डॉ० नागरजी से मिली है। उनके ही प्रोत्साहन से मैंने इसे प्रकाशित करने का साहस भी किया है। उनका ऋणी हूँ, उपकृत हूँ। पूज्य मातुल साहित्याचार्य श्री रामेश्वरप्रसाद पालीवाल, स्नेही मित्र प्रो० श्री करुणेश शुक्ल, डॉ० नवनीत गोस्वामी तथा साथी मित्र प्रो० ओ० पी० गुप्त एवं डॉ० कृष्णा गोस्वामी का भी मैं आभारी हूँ जिन्होंने इस कार्य को पूरा करने में सहयोग दिया है।

इस पुस्तक को तैयार करने में गुजराती के अनेक विद्वान् लेखकों की कृतियों से मदद ली गई है उन सबका मैं विनम्र भाव से ऋण स्वीकारता हूँ और उनके प्रति आभार की भावना व्यक्त करता हूँ। अन्त में उत्साही प्रकाशक डॉ० बादामसिंह रावत को धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने थोड़े ही समय में इसे प्रकाशित करने का संकल्प पूरा किया है।

रामनवमी, —रघुनाथ भ

१० अप्रैल, १९८४

दूसरा संस्करण

छात्रों के लिए उपयोगी संस्करण की माँग थी। इसलिए यह संस्करण प्रस्तुत किया जा रहा है।

—रघुनाथ भट्ट

विषय-सूची

१. दयाराम : व्यक्तित्व

दयाराम बहुपार्श्वी हीरा थे। उनका प्रत्येक पहलू आबदार था। उनका जीवन अद्‌भुत था और व्यक्तित्व अजोड़। अनेक दन्तकथाओं के आकर वे अनेक भावधाराओं के स्रोत थे। छोटी उम्र में ही निराधार बन गये थे, सिर पर किसी की छत्र-छाया नहीं थी। अंकुशहीनता ने उन्हें नटखट बना दिया था। किसी पनिहारिन की मटुकी पर पत्थर दे मारा। बात बढ़ी तो पलायन करना पड़ा। नदी तैर कर यात्रा-धाम करनाली पहुँच गए। लोकापवाद के भय ने दिल दुखा दिया था। बाबा केशवानन्द से संन्यास लेने की ठानी। बाबा ने किशोर का प्रस्ताव ठुकरा दिया। गुस्से में आकर दयाराम ने साधु-निन्दा पर एक लावणी रच डाली।[1] आक्रोश ने कविता को जन्म दिया।

किशोर दयाराम का गला सुरीला था। इसलिए भजन और कीर्तन मण्डलियों में स्वाभाविक रूप से उन्हें प्रवेश मिल गया। भजन मंडलियों के साथ वे विभिन्न स्थानों पर भजन-कीर्तन में सम्मिलित होने लगे। एक बार एक भजन मंडली के साथ गुजरात के प्रसिद्ध वैष्णवतीर्थ डाकोरजी की यात्रा पर जाते समय उनकी भेंट परम भागवत और प्रतिष्ठित वैष्णव विद्वान श्री इच्छाराम भट्टजी से हुई। प्रथम मुलाकात में ही दयाराम का मन भट्टजी के प्रति समर्पित हो चुका था। भट्टजी ने इस तेजस्वी बालक को हृदय से आशीर्वाद दिया—'वत्स! तू जितेन्द्रिय होगा, तेरी कामनाएँ पूर्ण होंगी।'[2] इस मिलन से दयाराम की अनेक शंकाएँ निर्मूल हुईं और जीवन में एक नया मोड़ आया। भट्टजी के उपदेश से दयाराम तीर्थ-यात्राओं पर निकल पड़े। अनेक बार उन्होंने तीर्थ-यात्राएँ कीं। इन तीर्थ-यात्राओं ने उन्हें जहाँ एक ओर बहुश्रुत, बहुविद् बनाया वहाँ दूसरी ओर जीवन के सभी पहलुओं को प्रत्यक्ष देखने का भी मौका प्रदान किया। लोक-जीवन के इस विस्तृत निरीक्षण ने उनकी दृष्टि पैनी कर दी थी। उनके अनुभव की कसौटी पर चढ़कर जो निकला वह शुद्ध द्वादशवर्णी सोना था।

दयाराम के यायावरी जीवन ने उन्हें जितना कठोर बनाया उतना ही विनीत

---

१. देखिए बृ० का० दो० भाग-५ पृ० ७।

२. थाश जितेन्द्रिय शीघ्र तूं पक्व थशे सव काम।
श्री वल्लभ नाम थो, वच श्री इच्छाराम ।।
—बृ० का० दो० भाग-६, पृ० ३५९

भी बना दिया था। स्वाभिमान के वे पूरे रक्षक थे और अभिमानी के जानी दुश्मन। कृष्ण के प्रेम में आकंठ निमग्न थे। प्रत्यक्ष और स्वप्न की भेद-रेखा उनके कृष्ण-प्रेम की सीमा में आकर अस्तित्वहीन हो गई थी। यह उनका कृष्ण-प्रेम ही था जिसने उन्हें कृष्ण की भाषा (ब्रजभाषा) में लिखने के लिए प्रेरित किया।[1] ब्रजभाषा में प्रचुर मात्रा में प्राणवान् साहित्य रचकर दयाराम हिन्दी साहित्याकाश के एक उज्ज्वल नक्षत्र के रूप में हमारे सामने आते हैं।

गुजरात प्रदेश का नर्मदा का किनारा बड़ा सुहावना है। उसमें भी बड़ौदा जिले के चांणोद-करनाली से गुजरता हुआ किनारा तो प्राकृतिक सुषमा का जैसे भंडार ही है। यहाँ ओरसंग नदी का नर्मदा से संगम होता है। इससे यह स्थान पवित्रता के कारण 'दक्षिण प्रयाग' के रूप में पुकारा जाता है। इसके उत्तर में चांणोद गाँव हैं जहाँ शेषशायी भगवान् विष्णु का मन्दिर है। अधिकतर यहाँ ब्राह्मणों की बस्ती है। इस गाँव के एक मुहल्ले कंगालपुरी में साठोदरा नागर ब्राह्मण परिवार रहता था। परिवार के स्वामी थे प्रभुराम भट्ट और गृहस्वामिनी थीं श्रीमती राजकौर। इस भाग्यशाली दम्पति के यहाँ सं० १८३३ वि० के भाद्रपद शुक्लपक्ष वामन द्वादशी के लगते ही शनिवार के दिन बालक दयाराम का जन्म हुआ।[2]*

---

१. वेद बड़े गिरवान तें, नारायन की बांनि।
ब्रजभाषा भल ताहितें, ब्रजपति भखि मुख जानि॥

—द० सतसई दोहा ७०८

२. अति शुभ्रगुर्जरदेशमधि, दछन प्रयाग सचीर।
महासरित श्रो नर्मदा, अति सुठि उत्तर तीर॥
निकट ज्हाँ चंडिपुरि, विप्रन को सुठि थान।
जिहीं राजत हैं सदाश्री, शेषसाई भगवान्॥
सो पुरिमध्य निवास कवि, दयाराम हरिदास।
जानि विप्र साठोदरा, नागर न्याति प्रकाश॥

—दयाराम सतसई—डॉ० अम्बाशंकर नागर

* संवत अष्टादस तेत्तीस शके सोल ननानूं।
भादों अमलपक्ष तिथि द्वादशि जानिये॥
शनीवार नक्षत्र श्रवण योग अतीगंड।
रवि उदय गत घटी, इकतालीस प्हेंचानिये॥
दुजे राहु तीजे गुरु, शुक्र उभय, चौथे बुध।
रवि पंचम छट्ठे शनि, सप्तम कुज मानिये॥

(*शेष टिप्पणी अगले पृष्ठ पर)

श्री प्रभुराम और राजकौर दोनों साधु प्रकृति के थे। कृष्ण उपासक थे और पुष्टिमार्ग में उनकी अटल आस्था थी। कहते हैं कि यह परिवार मूलतः वैदिक ब्राह्मणों की महादेवोपासक शाखा से संबद्ध था और पश्चात् पुष्टिमार्ग का अनुयायी हो गया था। दयाराम ने अपनी अनेक रचनाओं में और अन्यत्र भी अपना नाम 'दयाशंकर' बताया है। संभवतः इसमें वैदिक परम्परा का हाथ रहा हो।[१]

वल्लभ सम्प्रदाय के नियमानुसार बचपन में ही दयाराम को 'श्रीकृष्णं शरणं मम' मन्त्र की नामदीक्षा दी गई थी। इस मन्त्र के दाता के रूप में गोस्वामी देवकीनन्दन जी का नाम लिया जाता है परन्तु अभी इसका समर्थन होना शेष है। आयु के ८वें वर्ष में दयाराम का उपनयन संस्कार बड़े धूम-धाम से सम्पन्न हुआ था। वत्सल पिता प्रभुराम ने पुत्र को स्थानिक ग्रामीण पाठशाला में पढ़ने के लिए रखा। पिता की यह इच्छा थी कि पुत्र संस्कृत पढ़े और इसलिए उन्होंने बड़ौदा की संस्कृत पाठशाला में प्रबन्ध करा लिया था। इसी बीच उन्होंने पुत्र के विवाह के लिए बात शुरू की और गंगा नाम की एक कन्या खोज भी निकाली थी। परन्तु दुर्भाग्य बीच में आया और कन्या की अचानक मौत हो गई। दूसरी जगह खोजने जा रहे थे कि प्रभुराम जी का अचानक अवसान हो गया। बालक दयाराम की आयु उस समय १० वर्ष की थी। दो वर्ष बाद दयाराम के सिर से माता का साया भी उठ चुका था। इस प्रकार १२ वर्ष तक पहुँचतेपहुँचते-दयाराम मातृ-पितृविहीन होकर अनाथ बन चुके थे। दयाराम के पालन-पोषण का भार उनके चाचा की पुत्री धनगौरी तथा मौसी देवबा ने अपने ऊपर ले लिया। दयाराम का ननिहाल डभोई में था। इसलिए चांणोद और डभोई के बीच दयाराम आते जाते रहे। कहते हैं कि चांणोद में ही किसी पनिहारिन की मटुकी पर पत्थर मारने के कारण जब हो-हल्ला हुआ तो दयाराम को चांणोद छोड़ना पड़ा।[२] पश्चात् भजन-कीर्तन करने

अष्टम केतु नों ससि, यह विधि के जन्माक्षर।
कृष्णदास 'दयाराम' ताके उन आंनिये।।
—देखिए—कृष्णजन दयारामभाई ले० जी० छ० जोशी।
संकलित त्रणज्योतिर्धरो० के० का० शास्त्री, पृ० १४४।

१. दयाशंकर दर्भावती सेवे मूल चाणोद निवास।
सं० १८३३ शाके १५६६ भाद्रपद सुदि ११ उपरांत १२ जन्मतिथि शनिबासरे उत्तराषाढ़ा घटी ४१ उपरांत अतिगंड जन्मयोगे श्री रवि उदित घटी ४१-४२ समये जन्म भाई दयाशंकरस्य।
(कवि की जन्म पत्रिका से : प्रा० स्था० जी० छ० जोशी)

२. रसिकवल्लभ : भूमिका सं० जे० गो० शाह, पृ० ४-५।

लगे। एक दिन ऐसी ही किसी एक भजन मंडली के साथ दयाराम गुजरात के प्रसिद्ध तीर्थ स्थान डाकोर के लिये प्रस्थित हुए। चांणोद और डभोई के बीच में 'तेन तलाब' नामक एक स्थान पर गुजरात के परम भागवत और प्रख्यात विद्वान् इच्छाराम भट्टजी के दर्शन का सुयोग दयाराम को मिला। यह प्रथम मुलाकात थी। श्री भट्टजी महाराज के सम्पर्क से दयाराम कृत-कृत्य हो गये और एक दिव्यदृष्टि का आविर्भाव उनमें हो गया।[1]

भट्टजी की प्रेरणा से दयाराम ने लम्बी-लम्बी दीर्घकालीन तीर्थयात्राएँ कीं। भारत के सभी तीर्थों के उन्होंने तीन-तीन बार दर्शन किये। कृष्ण-भक्ति के परमधाम श्रीनाथद्वारा के ७ बार दर्शन किये। डाकोर आदि छोटे-छोटे तीर्थस्थानों की अनेक बार यात्राएँ सम्पन्न कीं। इन यात्राओं के विषय में दयाराम के अध्येता विद्वानों में मतभेद हैं। परन्तु दयाराम की गुजराती कृति 'रसिक-वल्लभ' के पद ४ से १०वें तक जो यात्रा वर्णन हुआ है वह उनकी प्रथम तीर्थ यात्रा का वर्णन प्रतीत होता है। दयाराम साहित्य के संरक्षक और अध्येता श्री जीवनलाल जोशी के अनुसार दयाराम की यह प्रथम यात्रा उनके १३वें वर्ष से २५वें वर्ष या १५वें वर्ष से २७वें वर्ष की उम्र में सम्पन्न हुई थी।[2] दयाराम की दूसरी तीर्थयात्रा उनके जीवन के ३१वें वर्ष से शुरू होकर ७ वर्षों तक चलती रही। तीसरी तीर्थयात्रा दयाराम के जीवन के ५३वें वर्ष से आरम्भ होकर ५६वें वर्ष की आयु में समाप्त हुई। इस प्रकार जीवन के अनेक बहुमूल्य वर्ष दयाराम ने यात्रा-पर्यटनों में बिताये। इन यात्राओं के अन्तराल में कवि प्रायः चाणोद और अपने ननिहाल के गाँव डभोई में भी रहे परन्तु जीवन के अन्तिम वर्ष डभोई में ही व्यतीत हुए।

दयाराम को विधिवत् पढ़ने-लिखने का मौका नहीं मिला। पिता ने प्राथमिक ग्रामीण पाठशाला में रखा, लेकिन पढ़ाई पूरी नहीं हो सकी। माता-पिता के देहान्त के कारण जीवन निराधार होने से भजन मंडलियाँ और यात्राएँ ही उनके जीवन के शिक्षक बने। यात्राओं ने उनके जीवन के अनुभव-कणों को जुटाने में महत्वपूर्ण काम किया। उस जमाने में यात्राएँ पैदल होती

---

१. सदु शंकानो निर्धार कीधो, मल्या भक्तिनिष्ठ।
भट्टजी महाराज कहावे, डाकोराधीश जेना इष्ट॥
—दयाराम : ले० भोगीराम सांडेसरा, पृ० ६।
थाश जितेन्द्रिय शिष्य तूं, पक्व थशे तव काम।
श्रीवल्लभना नामथी, वच श्री इच्छाराम॥
—द० कृ० का० म० ६, पृ० ३५६।

२. कृष्णजन दयाराम भाई ले० जी० छ० जोशी।
(त्रण ज्योतिर्धरो सं० के० का० शास्त्री, पृ० १५४ परिशिष्ट-५)

थी। संघ बनाकर लोग यात्रा पर चल पड़ते थे। अनेक स्थानों पर परिचय होता था, नाना प्रकार के लोगों के सम्पर्क में आया जाता था। सभी साधु, विद्वान् इन यात्राओं में सम्मिलित होते थे। गाँव-गाँव, शहर-शहर, जंगल-मैदानों और घाटियों से ये यात्राएँ गुजरती थीं। अनेक प्रकार के अनुभव यात्रियों को होते थे। तीर्थ स्थानों में बड़ी-बड़ी सभाएँ होती थीं। वाद-विवाद चलते थे। शास्त्रार्थ होते थे। अनेक प्रसिद्ध विद्वान् उपदेशक और धार्मिक नेता अपने मतों का प्रतिपादन और प्रतिपक्षी मतों का खंडन करते थे। समस्त भारतीय मेधा यहाँ एकत्र होती थी। अनेक विषयों पर विचारों का आदान-प्रदान होता था। इस तरह तीर्थाटन उन दिनों व्यक्ति के अभ्यास और व्युत्पत्ति का एक सबल स्रोत माना जाता था। दयाराम को इन तीर्थाटनों से पर्याप्त लाभ मिला और वे बहुविद् और बहुश्रुत बन गये। बिना-पढ़े-लिखे ही पंडित बन गये। अपनी मातृ-भाषा गुजराती के अतिरिक्त पंजाबी, मराठी, तेलुगु, तमिल आदि अनेक प्रान्तीय भाषाओं की अच्छी जानकारी उन्हें हो गई थी। राजस्थानी तथा हिन्दी के पश्चिमी और पूर्वी दोनों रूपों में रचना करने की क्षमता उन्होंने हासिल कर ली थी। व्रजभाषा उन दिनों उत्तर भारत की धार्मिक तथा साहित्यिक भाषा थी। अतः गुजराती के पश्चात् दयाराम ने व्रजभाषा में प्रभूत-मात्रा में रचनाएँ की हैं।

दयाराम को बचपन से धार्मिक संस्कार मिले थे। जीवन की परिस्थितियों ने उन्हें दृढ़ किया और वे सर्वात्मना कृष्ण के प्रति समर्पित हो गये थे। कृष्ण ही उनके सब कुछ थे, वे कृष्ण की दया सखी थे। कृष्ण उनके सामने आते थे, उनके साथ लीला करते थे। कृष्ण के अन्तरंग मंडल में उनका अव्याहत प्रवेश था। कृष्ण का उन्होंने वरण कर लिया था। दूसरों की उन्हें चिन्ता न थी।[1] प्रथम यात्रा के पूर्ण होने पर सं० १८५८ या सं० १८६० में श्रीनाथद्वारा में श्रीनाथ जी के सान्निध्य में श्रीवल्लभ जी महाराज ने दयाराम को ब्रह्म-सम्बन्ध दीक्षा दी।[2] दीक्षा लेने के पश्चात् वे सम्पूर्ण रूप से भक्तिभाव में लीन हो

---

१. एकदा श्रीमदनमोहन जी कही वैष्णव कों यों,
याको सब प्रेरो हो और विचारत हों क्यों।
एतो मेरी दयासखी है मो अति प्यारी,
याकी तुम फौरी आज करो नीके मनुहारी॥
—अनुभव मंजरी

२. श्रीगुरु वल्लभलाल जुगल पद करं प्रनामा।
पुरन ग्रन्थ करवाय निजदास निवार्यो ताप॥
—वस्तु वृन्ददीपिका द० कृ० काव्य संग्रह, पृ० ५१३-५८६।

गये । उनकी भक्ति-भावना और प्रेम भरे गीतों की कीर्तिगाथा सर्वत्र फैल गई थी । सारे गुजरात से उन्हें आदर और सत्कार के साथ कथा-कीर्तन के लिए निमन्त्रण मिलने लगे थे । अनेक नर-नारियाँ उनके प्रति आकर्षित होकर उनके शिष्य मंडल में सम्मिलित हो गई थीं । भजन-कीर्तन ही उनका अवलम्ब था ।

वि० सं० १८८८ में कवि ने श्रीनाथद्वारा की यात्रा की और वहाँ से आकर रोगग्रस्त हो गये । रोग बढ़ता गया और कमजोर शरीर में अनेक व्याधियाँ घर करने लगीं । १२ वर्ष तक दयाराम इन रोगों से लड़ते रहे । कवि नर्मद इन रोगों के विषय में कहते हैं—'दयाराम का शरीर ज्वर, भगन्दर, प्रमेह, सारण गांठ और अंडवृद्धि से पीड़ित था ।'[1] दयाराम को दवा-दारू पर विश्वास न था । वे कहते थे 'मृत्यु को दवा-दारू से नहीं टाला जा सकता है । शरीर के दुःखों को शरीर ही भुगतेगा ।' कवि को मृत्यु की प्रतीति होने लगी थी । आत्मश्राद्ध वे पहले ही कर चुके थे । अपनी सम्पत्ति के बँटवारे के विषय में वि० सं० १८९२ में ही 'वसीयत' लिखकर रख दी थी ।

वि० सं० १९०९ के माघ मास के कृष्ण पक्ष की पंचमी, सोमवार के दिन प्रातः ९ बजे इस परम भागवत कृष्णप्रेमी कवि और भक्त ने डभोई में अपनी नश्वर देह का त्याग कर श्रीकृष्ण के नित्य लीला-धाम में प्रवेश किया ।[2]

दयाराम कमनीय देहलता के साथ अवतरित हुए थे । रंग उनका एकदम गोरा-चिट्टा था, त्वचा मुलायम और मखमली थी । ललाट चौड़ा था । आँखें तेज थीं । दो गुलाबी होंठ पान की रक्तिमा से हमेशा रंजित रहते थे । पारदर्शी कंबुकंठ था जिसमें से गुजरती हुई पान की लाली झाँकती थी । क्षीण कटि पर विशाल वक्ष था । कद मझोला था हाथ-पैर नाजुक और मुलायम थे । मुख लम्बा और नाक धारदार थी । मूँछें छोटी और नुकीली थीं । यों शरीर पतला था पर था गठीला ।[3]

वस्त्रों के प्रति दयाराम का बड़ा अनुराग था । अच्छे वस्त्र पहनते थे । माथे पर लाल-गुलाबी ब्रजवासी पाग या लाल चटकदार साठोदरी पगड़ी धारण करते थे । मलमल का सुन्दर अँगरखा जिसके गले, पीठ, कलाई और कन्धों पर बेल-बूटे कढ़े हुए रहते थे, पहनना पसन्द करते थे । कन्धों पर मृदुल-मसृण लाल किनारी वाला दुपट्टा शोभित रहता था । पैरों में बढ़िया राजस्थानी कामदार-जूतियाँ पहनते थे । समय, स्थान और अवसर के अनुसार

---

१. जूनुं नर्मगद्य (गुज०) पृ० ४८१ ।
२. देखिए बृ० का० दोहन भाग-५, पृ० ४२ ।
३. जूनुं नर्मगद्य (गुज०) पृ० ४८२ ।

कपड़े धारण करते थे। ब्रज में ब्रजवासी पोशाक पहनते थे, गुजरात में गुजराती वस्त्र धारण करते थे। कपड़े पहनने का भी उनका अपना तरीका था। धोती के आगे और पीछे की लाँग को ठीक करते-करते कहते हैं, उन्हें आधा घंटा लगता था। सिलाई दुरुस्त हो—इसका वे विशेष ध्यान रखते थे। एक बार उनके एक प्रिय दर्जी ने अँगरखे को कन्धों से कुछ ढीला कर दिया तो कवि ने चिढ़कर दर्जी के सिर कलमदान दे मारा। पान के साथ इत्र के भी शौकीन थे। दिन में पचास पान खाते थे। कपड़ों पर इत्र का एक हाथ फिरा हुआ रहता। इसलिए जिस ओर चलते सुगन्धि का एक झोंका उनके पीछे चलता था।

दयाराम सुन्दरता की मनोहर मूर्ति थे। सुन्दर कपड़ों के प्रेमी और पान के अनुरागी। पान-रागरंजित अधरों पर हँसी की थिरकती हुई गति के साथ उनके मीठे बोल दर्शकों और श्रोताओं के मन को आकर्षित कर लेते थे। जहाँ जाते थे वहाँ आकर्षण के केन्द्र बन जाते थे। इसने अनेक किम्वदन्तियों और कपोल-कल्पनाओं को जन्म दिया। कहते हैं कि किशोरावस्था में पदार्पण करते ही यौवन-सुलभ चांचल्य के कारण उन्होंने पनिहारिनों की मटुकियों को अपने कंकड़ों का निशाना बनाना शुरू कर दिया था। युवावस्था के विकसित होते ही यह प्रवृत्ति अधिक बढ़ी होगी। यों भक्ति में प्रेम विवाह तो होता ही है। अनेक नारियाँ उन पर मुग्ध थीं। उनका कुछ ऐसा प्रभाव था कि गुणी गुजरातिनें उन पर न्यौछावर थीं। उनकी एक-एक अदा कर फिदा थीं। अनेक नारियाँ उनके जीवन से जुड़ गईं। उनमें एक कमलाबाई थीं, दूसरी रतनबाई थी, एक तृतीया भी शामिल थीं। सुनारन रतनबाई तो अन्तिम समय तक कवि के साथ रहीं और कवि ने उनके लिये २५ रुपये की सखावत अपने वसीयतनामे में की। गुजराती साहित्य के सभी विवेचकों और दयाराम के चरित्रकारों ने इस विषय को लेकर काफी खण्डन और मण्डनात्मक सामग्री प्रस्तुत की है। परन्तु तथ्यों और प्रवादों की तह में जाकर इतना कहा जा सकता है कि दयाराम प्रेमी जीव थे, रसिकता में पूरे पगे थे। रसिकता की कुछ बूँदें इधर-उधर छलक कर उनके ऐहिक जीवन को आर्द्र कर गई हों तो इसे अचरज का विषय नहीं बनाना चाहिए। सामान्यजन जिसे पाप-पुंज कहते हैं रसिकों के लिये वह मोक्ष का साधन होता है। सन्तों का जीवन ही ऐसा होता है जिसका अनुसरण सबके वश की बात नहीं होती है। सन्त जो कुछ करते हैं समझ-बूझकर ही करते हैं।[1]

---

१. बड़े करें सब समुझि के सूले नहिं को ठोर।
विधि जिमि बेटी पर चित्त धर्यो नहि कछु कारन और॥

दयाराम के प्राथमिक शिक्षक श्री वापाराम रावल की यह भविष्यवाणी कि दयाराम आगे चलकर अच्छा गायक बनेगा सिद्ध हुई। दयाराम गायक तो बने ही साथ ही संगीत के आराधक भी बने उनकी संगीत साधना वेजोड़ थी। अनेक वाद्ययन्त्रों के बजाने में उन्होंने निपुणता प्राप्त कर ली थी। मृदंग और तबले में पारंगत थे तो जलतरंग के उस्ताद। वीणा पर उनका पूरा अधिकार था तो तम्बूरा उनका प्रिय साज था। हाथ में तम्बूरा लेकर जब वे भक्ति-भाव में निमग्न होकर गाते थे तो स्वर्गीय आनन्द का वातावरण सभा में छा जाता था।[1] वे बड़ी-बड़ी संगीत-महफिलों में जाते थे। अनेक जगहों से उन्हें सम्मान के साथ आमन्त्रण मिलता था। बड़ौदा के महाराजा सयाजीराव द्वितीय, फतेहसिंह राव गायकवाड़ आदि महानुभाव प्रायः उन्हें बुलाते थे। रात-भर संगत चलती थी। श्रीनाथद्वारा में उनके संगीत ने भक्तों के दिल जीत लिये थे। वैष्णवों के यहाँ तो उनका भजन-कीर्तन होता ही रहता था। सारे गुजरात में उनकी धाक थी।

दयाराम संगीत के शौकीन ही नहीं अपितु अच्छे मँजे हुए जानकार भी थे। एक बार बड़ौदा की एक संगीत महफिल में दयाराम के शिष्य गिरिजा-शंकर और रणछोड़भाई कथा-कीर्तन कर रहे थे। तबले पर संगत गिरिजाशंकर कर रहे थे। तबला बजाने में उनसे कोई चूक हो गई। श्रोताओं में से एक साधु से न रहा गया। उसने उठकर भूल बताई। संयोगवश दयाराम भी उस सभा में उपस्थित थे। दयाराम ने साधु को समझाया कि भूल तो सबसे होती है। साधु ने प्रत्युत्तर दिया—'उस्तादों को भूल नहीं करनी चाहिए।' दयाराम तैश में आ गये और कहा—'पकड़ो तबला, मैं गाता हूँ। साधु तैयार! सारी रात संगत करते रहे, दयाराम गाते रहे। साधु हारा नहीं। दयाराम रुके नहीं। भोर होते ही दयाराम ने एक अटपटा राग गाया, साधु थोड़े हिचकिचा गये। दयाराम जीत गये। लोग दयाराम पर खुश थे। दयाराम साधु की उस्तादी पर फिदा थे। उन्होंने अपने कण्ठ का स्वर्णहार निकालकर साधु के गले में डाल दिया। संगीत पर न्यौछावर ऐसा व्यक्तित्व था दयाराम का।

दयाराम के गले में अजब मोहिनी थी। एक बार यात्रा-मंडली में डाकुओं के हाथ में आ गए। मण्डली के तीन यात्रियों की हत्या नृशंस डाकुओं ने कर

सब रस भोगें सन्त कबु तहू रहे निष्पाप।
स्निग्ध पगी रसना जिमि, अलेप अगन प्रताप॥

—डॉ० नागर : दयाराम सतसई छन्द ३७८। ६०८।

१. भक्त कविवर दयाराम : दयाराम शताब्दी स्मृति ग्रन्थ पृ० १४०।
लें० शान्तिलाल बी० जोशी।

दी और दयाराम को कैद कर सुदूर हैदराबाद ले गए। डाकुओं का सरदार कुख्यात मराठा डाकू आणाजी था। दयाराम के कर्णप्रिय भजनों को सुनकर उसका भी दिल पसीज गया और उसने भोजन खर्च देकर कवि को मुक्त कर दिया। यह दयाराम के गले का जादू था।[1]

दयाराम को भारतीय संगीत और कीर्तन पद्धति का अच्छा परिचय था।[2] अनेक राग-रागिनियों के वे ज्ञाता थे। गत, ताल और लय के गम्भीर पारखी थे। तारों की झंकृति के महत्व से अवगत थे। अनेक साधु-संत और फकीर उनके पास संगीत सीखने आते थे।[3] दयाराम के पास पाँच तम्बूरे, दस-बारह जोड़ी तबले, २ मृदंग और सारंगी, बीन, सुरमण्डल, सितार, जलतरंग, चंग और करताल हमेशा रहते थे। इसमें से आज दयाराम की स्मृति के रूप में दो तम्बूरे, दो जोड़ी तबले, छोटा मृदंग अवशिष्ट हैं।

दयाराम स्वभाव के तेज थे। जीभ उनकी धारदार थी। 'ना' कहने के धनी थे।[4] स्वाभिमानी पक्के थे। किसी की धौंस के तावेदार नहीं थे। सेर पर सवासेर थे। गुस्सा कड़क था। राजा-महाराजाओं की उन्हें परवाह नहीं थी। धर्मगुरुओं की लीला को जानते थे। अमीरों के चोंचलों के कायल न थे। स्वतन्त्र जीव थे। न ऊधो से लेने के आदी थे और न माधो को देने को लालायित। अपनी मरजी के बादशाह थे।

एक बार विट्ठलेश महाराज डभोई पधारे। सब वैष्णवों ने मिलकर महाराज का भावभीना स्वागत किया। परन्तु वैष्णव होने पर भी दयाराम को इस समारोह में जाना उचित न लगा। बुलाने पर उन्होंने कहला भेजा कि वे इस शर्त पर ही समारोह में उपस्थित रह सकते हैं कि उन्हें और श्री विट्ठलेश जी को समान ऊँचाई वाले आसनों पर बिठाया जाय। उनकी शर्त मान ली गई। मगर ज्योंही दयाराम बैठने गये कि पीछे से किसी ने आसन खिसका

---

१. देखिए बृ० का दो० भाग—५, पृ० २४ (गु०)
२. देखिए रसिकवल्लभ की भूमिका पृ० २३ (सं० जे० गो० शाह) (गु०)
३. गा नट-नायक ललित श्री, सारंग पानि कहाँन।
   जाहि गोरिशंकर भजें, जदपि रूप कल्यान ॥ द० स० २७६
   कृष्ण भजन बिन कर्म सब, तनक भ्रष्ट फलहान।
   अफल, सफल श्रम सुधरता, जस मृदंगी गतमान ॥ ३२७
   गुन सों सब को जोउ हें, अगुने मृतक समान।
   बिना जियारो जन्त्र ज्यों, फीकी रुचै न कान ॥ द० स० ४८७
४. तनक बुराई तुरत भल, जामें अति परिनाम।
   कंठ कटे कटु न कहे, सो न सयानो काम ॥ द० स० ४५१।

दिया। दयाराम आग-बबूला हो गये, गले की कंठी तोड़कर फेंक दी। महाराज उन्हें समझाने के लिये गये तो उन्हें चौक से ही निकाल दिया। ऐसा था उनका स्वाभिमानी तेवर।

भडौंच शहर की बात है। तिलकायत गोस्वामी दीक्षित जी महाराज पधारे थे। वैष्णवों ने उन्हें प्रथम तिलक किया। दयाराम वैष्णव मण्डली से यह कहकर उठ चले 'कि प्रथम तिलक मेरा होना चाहिए, मैं दीक्षित जी से श्रेष्ठ हूँ : दीक्षित जी तो केवल वैष्णव ही हैं, मैं तो वैष्णव, विद्वान् और कवि भी हूँ।' किसी को फुसलाने की उनकी आदत नहीं थी। स्पष्टवक्ता थे। अपनी रचना अपनी मौज के लिए करते थे या अपने आराध्य गोपीश की प्रीति-सम्पादन करने के लिए; किसी भूप से तोहफा लेने के लिए नहीं।[1]

भजन-कीर्तन दयाराम का नित्य-नियम था। डभोई में रहते-रहते उनके आस-पास उनके अनेक प्रशंसक और शिष्य एकत्र होने लगे। ज्यों-ज्यों उनकी ख्याति बढ़ती गई, त्यों-त्यों उनके शिष्यों की संख्या में वृद्धि होती गई। चाणोद, डभोई, डाकोर, बड़ौदा, भड़ौंच और उमरेठ आदि स्थानों से हजारों की तादाद में नर-नारी उनके भक्त-मण्डल में प्रवेश पाने लगे। कुछ उनकी कविता पर मुग्ध होकर आते थे तो कुछ उनकी संगीत कला पर न्यौछावर थे और कुछ कृष्णभक्ति के प्रवाह में अवगाहन कर पवित्र होने आते थे। उनकी भक्त-मण्डली में श्री रणछोड़ भाई जोशी, गिरिजाशंकर जोशी, रतनबाई, वसन्तराय, घेलाभाई अमीन और लल्लूभाई कायस्थ प्रमुख थे। रणछोड़ भाई और गिरिजाशंकर पट्टशिष्य थे। ये दयाराम के रचे पद और गीतों को गाते थे। दयाराम शिष्यप्रिय थे। रणछोड़ भाई पर उनका पुत्रवत् स्नेह था। वसन्तराय के संगीत पर तो वे इतने मुग्ध थे कि वसीयतनामे में अपना तम्बूरा ही वसन्तराय के नाम लिखते गये।

दयाराम बड़े भावुक थे। एक बार पेटलाद नगर की एक कुलीन महिला दयाराम की रचनाओं से प्रभावित होकर डभोई में कवि से मिलने आई। कवि उस समय वर्षासन लेने के लिए बड़ौदा जा रहे थे। परन्तु प्रशंसिका की भक्ति-भावना से गद्‌गद होकर वर्षासन की चिन्ता छोड़कर उस महिला को संगीत-गीत-भजन सुनाते रहे।

दयाराम को धन की चिन्ता कभी नहीं रही। उन्होंने सब कुछ कृष्ण पर छोड़ दिया था। एक-दो बार उन्हें इस विषय में कुछ कड़वे अनुभव हुए और उन्होंने

---

१. पुरुषोत्तम गोपीश श्री, कृष्ण मनोहर रूप।
तब प्रीत्यर्थ सुग्रन्थ यह, नहिं रिझवन को भूप॥

—सं० डॉ० अ० शं० नागर : द० स० छ० ७२८।

संकल्प कर लिया कि वे वृत्तिका के लिए किसी के सामने हाथ नहीं फैलायेंगे ।[1] गुजरात में उनके अनेक शिष्य थे जो उनकी भली-भाँति देखरेख रखते थे । अपनी थोड़ी-बहुत जमीन थी जिससे १५ रुपये की वार्षिक आय हो जाती थी । डभोई और बड़ौदा के कुछ व्यापारी महाजनों ने साग्रह वर्षासन का प्रबन्ध कर दिया था । कुछ आमदनी भजन-कीर्तन और कथा-वार्ताओं के द्वारा हो जाती थी । जीवन-निर्वाह के लिए पर्याप्त था । संचय के दयाराम पक्षपाती नहीं थे । जो आता था, दोनों हाथों से उसे बिखेर देते थे । एक बार उन्होंने 'आत्मश्राद्ध' करने की इच्छा व्यक्त की तो शिष्यों और भक्तों ने बड़े उत्साह से दो हजार से भी अधिक रुपये एकत्र कर दिये । दयाराम का आत्मश्राद्ध बड़ी धूम-धाम से सम्पन्न हुआ । जो कुछ उनके पास था सब खर्च कर दिया । बाद को जो इकट्ठा हुआ उसे वसीयतनामे के द्वारा अपने शिष्यों और आश्रितों के बीच तकसीम कर मुस्कराते चले गये ।

रतनबाई नाम की एक सुनारिन बाल-विधवा दयाराम के जीवन में तब आई जब दयाराम चालीस वर्ष की आयु पार कर गये थे । इस महिला को लेकर दयाराम के चरित्र पर अनेक आक्षेप हुए हैं । रतनबाई विधवा थी, दुःखी थी । कवि के यहाँ उसने आसरा पाया और अनन्य निष्ठा के साथ कवि की सेवा-शुश्रूषा की । कवि पर उसकी अनन्य प्रीति थी । कवि की मृत्यु के बाद भी रतनबाई ने उनकी मूर्ति का दर्शन करने के पश्चात् ही अन्न-जल ग्रहण करने का संकल्प दृढ़ता से निभाया । कवि का भी उस पर गाढ़ अनुराग था । एक बार कवि के रोष के कारण रतनबाई उन्हें छोड़कर चली गई थी तो कवि ने खाना-पीना छोड़ दिया था । कवि के एक मित्र के समझाने पर रतनबाई ने कवि के यहाँ रहना स्वीकारा । ३७ वर्ष तक सतत रतनबाई कवि के साथ रही । कवि अपरिणीत थे । इसलिए सामाजिक दृष्टि से अनेक भ्रान्तियों को इस प्रेमी-जोड़ी ने जन्म दिया ।[2] परन्तु ये दोनों दिव्य जीव थे जो पूर्वजन्म के ऋणानुबन्ध के रूप में एकत्र हुए थे । वसीयतनामे के अनुसार दयाराम ने रतन बाई को केवल पच्चीस रुपये देने को कहा है क्योंकि रतनबाई ने उनका 'काम-काज' और चाकरी की थी । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दयाराम और रतनबाई का सम्बन्ध पारस्परिक भक्ति और स्नेह के कारण ही था । कुछ विरोधियों के द्वारा ही इस सम्बन्ध को अवांछित मोड़ दिया गया प्रतीत होता है ।[3]

---

१. बृ० का० दोहन भाग-५, पृ० २८ ।

२. देखिए : दयाराम ले० डॉ० प्रवीण दरजी, पृ० १६ ।

३. भक्त कवि दयाराम भाई : के० का० शास्त्री, दयाराम शताब्दी स्मृति ग्रन्थ, पृ० ४६

दयाराम पुष्टिमार्गीय वैष्णव थे। उनका सारा जीवन कृष्णमय था। कृष्ण-कसौटी पर ही वे संसार की परीक्षा करते थे। कृष्ण-प्रेम में वे आकण्ठ निमग्न थे। तैरें तो कृष्ण की कृपा और डूबें तो भी कृष्ण की ही कृपा। गोपीभाव से उन्होंने कृष्ण का वरण किया था। वे कृष्ण की गोपी थे, दूसरा उनका कोई स्वामी नहीं था।[1] कृष्ण पर उनकी अनन्य निष्ठा थी। एक बार बड़ौदा के एक प्रसिद्ध धनाढ्य गोपालराव महाराव ने दयाराम को गणपति की स्तुति-प्रार्थना में कुछ लिखने का अनुरोध किया। कवि ने उत्तर दिया कि वे कृष्ण का वरण कर चुके हैं, अब दूसरे की प्रार्थना या स्तुति नहीं कर सकते हैं। दयाराम चाहते तो गणपति की प्रशंसा में स्तुति-प्रार्थना लिखकर धन का उपार्जन कर सकते थे। लेकिन कृष्ण उनके प्रिय थे। दूसरे की उन्हें परवाह नहीं थी। उन्हें कृष्ण का साक्षात्कार हुआ। दयाराम के इस दैवी जीवन के साथ अनेक चमत्कारी प्रसंग जुड़े हुए हैं। कहते हैं कि जब दयाराम अपनी प्रथम तीर्थयात्रा के दौरान काशी की ओर निकले तो काशी १५-२० मील दूर रह गयी थी। दयाराम दौड़े परन्तु तब तक मन्दिर के दरवाजे बन्द हो गए थे। दयाराम निराश थे। एकाएक एक अज्ञात पुरुष ने उनके सामने आकर कहा 'उठो, दरवाजा खुला है।' दयाराम स्नान करके काशी विश्वनाथ का दर्शन करते हैं और प्रशंसा में एक लावणी सुनाते हैं। कहते हैं, श्रीनाथजी ने दयाराम को स्वयं ब्रजभूमि में ले जाकर अपनी आभ्यंतरिक लीलाओं के पावन-दर्शन कराये थे। नरसी मेहता की हुण्डी की तरह दयाराम के कर्ज को भी श्रीकृष्ण ने चुकाया था। रामेश्वर धाम में कृष्ण बड़े कि शिव ? इस मुद्दे पर उग्र विवाद हो गया तो शिव-पक्षी साधु ने तर्क का सहारा छोड़कर गुस्से में आकर दयाराम के सिर पर प्रहार करने के इरादे से डंडा उठाया तो श्रीकृष्ण की कृपा से प्रहारकर्त्ता के हाथ के साथ उठा हुआ दंड ऊपर ही ऊपर रह गया। ऐसे कितने ही चमत्कारी प्रसंग दयाराम के जीवन के साथ जुड़कर अनेक कथाओं के उत्स बन गए हैं।

दयाराम का जीवन एक समृद्ध जीवन था। मध्यकालीन व्यक्तित्व की सभी विशेषताओं से वे जुड़े हुए थे। उनका अध्ययन विस्तृत था। वेद, उपनिषद् और पुराणों से लेकर दर्शन, व्याकरण और काव्यशास्त्र तक उनकी गहरी पैठ थी। ज्योतिष और गणित के वे जानकार थे। पशु-पक्षी और वनस्पति जगत् की अनेक विशेषताओं और विविधताओं से वे परिचित थे। जागतिक व्यापार के सूक्ष्म द्रष्टा थे। सामाजिक परम्परा और रूढ़ता में जहाँ कहीं छिद्र या कमी दिखाई देती थी वहाँ अपनी राय प्रकट करने में उन्होंने कोई संकोच नहीं किया। जो जैसा है उसको वैसा ही प्रस्तुत किया। स्पष्टवक्ता थे। रसिकजन थे।

१. एव वर्यो गोपीजन वल्लभ, नहीं स्वामी बीजो।
नहीं स्वामी बीजो रे, म्हारे नहीं बीजो रे॥

२. दयाराम की बहुज्ञता

कवि-भारती का अपना एक अनोखा संसार होता है। ब्रह्मा एक संसार की सृष्टि करता है, तो कवि एक दूसरे ही संसार की साधना में तल्लीन रहता है। ब्रह्मा सर्वज्ञ होता है। नाना नामरूपमयी सृष्टि की सफलता का रहस्य उसकी इस सर्वज्ञता पर आधृत रहता है। कवि की सृष्टि की सफलता के लिए निपुणता आवश्यक होती है। निपुणता का आधार लोक, शास्त्र की जानकारी होती है। कवि को निपुणता प्राप्त करनी होती है—सर्वतो दिक्का ही कविवाचः।[1]

भारतीय काव्य शास्त्र में महामुनि भरत ने कवि के भार की विराटता की ओर निर्देश करते हुए कहा है—

> न तत् ज्ञानं, न तद् शिल्पं न सा विद्या न सा कला।
> न स योगो न तत् कार्यं, नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ॥[2]

अपनी काव्य-रचना के लिए कवि को अनेक स्रोतों का सहारा लेना पड़ता है। उसे परम्परा की पहचान रखनी पड़ती है, वर्तमान का अवेक्षण करना पड़ता है और भविष्य की कल्पना का चित्र उपस्थित करना होता है। उसे संसार चक्र के भीतर एक समानान्तर संसार प्रस्तुत करना होता है। इसलिए उसकी सज्जता के लिए आचार्य भामह का मत है—

> शब्दश्छन्दोऽभिधानार्थाः इतिहासाश्रयाः कथाः।
> लोकोयुक्तिः कलाश्चेति मन्तव्या काव्यज्ञैर्ह्यमी ॥
> शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनाम्।
> विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः ॥[3]

कवि को काव्य-रचना के लिये व्याकरण, छन्द, कोश, अर्थ, इतिहासाश्रित कथाएँ, लोक-व्यवहार, तर्कशास्त्र और कलाओं का मनन करना चाहिए। शब्द और अर्थ का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके काव्य जानने वालों की उपासना और अन्य कवियों की रचनाओं का अध्ययन करना चाहिए। तत्पश्चात् ही काव्य-रचना में प्रवृत्त होना चाहिए।

इस प्रकार काव्य-प्रणयन के लिए कवि के लिए लोक और शास्त्र का विस्तृत ज्ञान अनिवार्य माना गया है। जिस कवि की लोक और शास्त्र में जितनी

---

१. काव्य मीमांसा : राजशेखर ५।
२. नाट्यशास्त्र १/११७।
३. काव्यालंकार सूत्र० ५/६।

गहरी पैठ होगी उसका काव्य उतना ही पुष्ट और सफल होगा। लोक, शास्त्र की निपुणता ही उसकी वाणी को उत्कृष्टता प्रदान करती है। एक ही अर्थ में विशेष अर्थ का सन्निवेश भी इसी निपुणता पर आधारित है। निपुणता से कवि की वाणी पल्लवित होती है।

अतथास्थितानपि तथास्थितानिव हृदये या निवेशयति।
अर्थ विशेषान् सा जयति विकट कविगोचरावाणी।[1]

दयाराम ने निपुणता हस्तगत की थी। दूर-दूर के लम्बे-लम्बे प्रवासों के द्वारा, लोगों के साथ रहकर, उनके व्यवहारों को देखकर। बड़े से बड़े राजा-महाराजा, महन्त-श्रीमंतों के साथ वे रहे थे। साधारण से साधारण जनों के साथ उनका सम्पर्क था। विभिन्न तीर्थों के पंडित-पुरोहितों को देख आये थे। विद्वानों से उन्होंने जानकारी प्राप्त की, पूर्वसूरियों की रचनाओं का अध्ययन किया था और समाज के कार्य-कलापों पर वेधक दृष्टि रखी थी। इसलिए उनकी सतसई में उनकी बहुज्ञता और निपुणता का विराट् दर्शन होता है। उनका शास्त्र-ज्ञान प्रखर था। अपने मत शुद्धाद्वैत और पुष्टिमार्गीय भक्ति का उन्होंने अनेक तर्क देकर प्रतिपादन किया है। मीमांसकों का वे उग्र विरोध करते हैं। उनके निरीश्वरवाद पर वे एक तीखी चपत लगाते हैं। वे कहते हैं—'ईश्वर है। अगर रात के राजा घू-घू को सूर्य के अस्तित्व का भान नहीं होता तो सूर्य का क्या दोष।'[2] कर्म का फल मिलता है यह बात भी बिल्कुल गलत है। देखो अजामिल को। उसे कर्मफल भोगे बिना ही मोक्ष मिल गया।[3] योग, ज्ञान और वैराग्य ये तीनों ही नर प्रकृति के हैं इसलिए माया के आकर्षण में फँस जाते हैं। भक्ति नारी है इसलिए माया उसे लुभा नहीं सकती है।[4] ज्ञानी को मोक्ष अत्यन्त दुर्लभ है, भक्त को भक्ति के प्रताप से सहज में भगवान् प्राप्त हो जाता है। सांख्य तो घुणाक्षर न्याय है।

श्रुति में परब्रह्मतत्व को 'नेति नेति' कहकर पुकारा गया है। दयाराम भी अपने शुद्धाद्वैत के अनुसार समर्थन करते हैं—

---

१. ध्वन्यालोकः आनन्दवर्द्धन—चौखंभा पृ० ४१३।

२. कहें मिमांसक ईस ना, मुनि मन चित्त धरि खाँच।
घू घू घने न जानही, सहुँ ज्यों सुर हैं साँच॥ द० स० ६६०।

३. करती करी सुभोगनी, कहे मीमांसी बांन।
अजामेल भुगऐं विनां क्यों पायो निरवांन॥ वही ६३०।

४. पीर प्रधान न भक्त दें, स्वमिनीं भक्ती हीय।
योग न्यांन वैराज्य नर दमें तदाश्रित तीय॥ ३१३

श्रुति नेती मन-गो-अगम, त्रिगुन अक्षरातीत।
सो श्री गोपीनाथ कों अभिवादन अगनीत ॥[१]

वेदों में ईश्वर को एक मात्र कर्ता-हर्ता कहा गया है। जो कुछ करता है वही करता है—उसकी लीला से सब कुछ अस्तित्व में आता है, तिरोहित होता है—यतो इमानि भूतानि जायंते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयान्ति संविशन्ति।

दयाराम भी इसी का समर्थन करते हैं—

श्रीहरि बिन कछु करि हरी, कहूँ सकें नहिं कोय।
कहि श्रुति में कृति का करी, हरि भो गती न होय ॥
× × × ×
जो न रूप जगधाम, क्यों संभव करतव्यता।
एकोऽहं बहुसाम, श्रुति निषेध करत न बनें ॥[२]

पुष्टिमार्ग और शुद्धाद्वैत के सभी प्रामाणिक ग्रन्थों का उनका अध्ययन विशाल था। उसकी सभी परम्पराओं से वे परिचित थे। पुष्टिमार्ग प्रतिपादित भक्ति का सबल तर्कों से मण्डन करते थे। शांकर मत में जीव को ही ब्रह्म माना गया है। परन्तु माया के आवरण के कारण वह अपने स्वरूप को पहचानने में असमर्थ रहता है। शुद्धाद्वैत में जीव और ब्रह्म अलग-अलग हैं। एक अंग है और दूसरा अंगी, दोनों एक नहीं हैं एक होने की संभावना भी नहीं है—

भयो ब्रह्म तें जीव फिरि, ब्रह्म होय कहि मुग्ध।
ज्यों दधि पयसों होत, सौ बहुरि बनें नहिं दुग्ध ॥[३]

शुद्धाद्वैतवादियों का परब्रह्म माया से अलिप्त है। वह निर्गुण और सगुण दोनों है। इनमें सर्ववाद स्वीकार करके सर्वधर्मों का उसमें आश्रय माना है दयाराम इसी बात को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि कोई कुछ कहता है और कोई कुछ, परन्तु जिसमें सब धर्मों का होना संभव हो वही परमेश्वर परब्रह्म है—

कछु कहे को कछु कहें, भिन्न सकल के देस।
सो संभव जाहि को, वेहि पुरन परमेस ॥[४]

श्री वल्लभाचार्य ने अपने अणु भाष्य में कहा है—कि 'ब्रह्म अनेक रूप होकर भी एक है। उसमें सब धर्म निहित हैं। विरोधी मालूम होने वाली

---

१. द० स० दो० ३।

२. द० स० दो० २१ और ३३३।

३. वही, छन्द सं० ३३५।

४. द० सं० छ० सं० ३३४।

धर्म-स्थितियाँ उसमें संभाव्य और नित्य हैं। इसलिए वह सर्व-शक्तिमान है, पूर्ण परमेश्वर है।[१]

दयाराम भारत के सभी दार्शनिक मतों से परिचित थे और शुद्धाद्वैत के पूरे पंडित और दृढ़ पक्षधर थे।

पुराणों का ज्ञान मध्यकालीन कवि की एक अनिवार्यता थी। दयाराम ने पुराणों का गहरा अध्ययन किया प्रतीत होता है। पुराणों के आख्यानों पर उनकी अनेक गुजराती कृतियाँ निर्मित हुई हैं।[२] भागवत-पुराण उनका प्रिय पुराण रहा है। उसकी कथाओं और अन्तर्कथाओं से उनका अधिक गाढ़ परिचय रहा है। इन कथाओं का प्रयोग प्रायः भक्ति और भक्त की श्रेष्ठता प्रतिपादन करने के लिए किया गया है। शबरी और ध्रुव भगवान् के प्रति सर्वात्मना समर्पण और अखण्ड विश्वास के प्रतीक हैं अन्यथा ज्ञानी मुनि और कठोर तपस्वी इनकी आराधना क्यों करते? देखिए—

धाता के सुनु सतरुपी, ध्रुव छत्री के बाल।
देवें याहि परिक्रमा, भक्ति बड़ गोपाल॥
मुनि मानी भुरि तपस्वी, वन्दे जग सब पाय।
सो सबरी हरि भक्त के अंध्रीउद ओंधाय॥[३]

राजा खट्वांग और जड़भरत, राजा भगीरथ और गंगा, कृष्ण और व्याध के साथ जुड़ी हुई कथाओं का समुचित उपयोग अपने मत की पुष्टि में दयाराम ने किया है। दयाराम ने अपने पौराणिक ज्ञान से भक्ति और नीति के विधानों को परिपुष्ट किया है। ऋषि दुर्वासा बड़े ज्ञानी थे, बड़े तपस्वी थे, ब्राह्मण वंश में उत्पन्न थे, बड़े स्वाभिमानी और क्रोधी थे, परन्तु उन्हें भक्त राजा अम्बरीष के चरणों पर झुकना पड़ा, कृत्या से बचाने वाला कोई उन्हें न मिला—

रुद्र अंस अजवंसमनि, दुर्वासा तपखांनि।
सो नृप अंब्रिख भक्त पद, नये क्रोधि बड़ भांति॥[४]

ज्योतिष और वैद्यक का ज्ञान प्रायः मध्यकालीन संभ्रान्त नागरिक के गुण माने जाते थे। मध्यकालीन अनेक कवियों ने अपने ज्योतिष और वैद्यक ज्ञान का परिचय अपनी कृतियों में दिया है। दयाराम ज्योतिष की बारीकियों को जानते थे। ज्योतिषी प्रायः मूल जन्मपत्री को देखकर वर्षफल लिखते हैं। जन्म कुण्डली के ग्रहों की दशा के अनुसार ही वर्षफल या अब्दफल निकाला जाता

---

१. ब्र० सू० अणुभाष्य।

२. देखिए— अजामेला आख्यान, रुक्मिणी विवाह आदि।

३. द० स० छन्द सं० ३०८, ३०९।

४. द० सं० छन्द ३१०।

है। वर्षफल मूल जन्मकुण्डली के अनुसार ही लिखा जाता है। कृष्ण और विधाता की सापेक्षता को इसी आधार पर निश्चित कर दयाराम कहते हैं—

जनमपत्रि सब जगत की रचि राखी गोपाल।
तामें तें फिरि अब्दफल, लिखत विधाता भाल ॥[1]

परब्रह्म श्रीकृष्ण के अनुसार ही विधाता जगत का वर्षफल बनाता है। ब्रह्मा भी श्रीकृष्ण के अधीन हैं। ज्योतिष की १२ राशियों, ९ ग्रहों, २७ नक्षत्रों का उपयोग भी दयाराम ने केवल शाब्दिक क्रीड़ा के लिए किया है। राशि के अक्षरों को लेकर लम्बी-चौड़ी ऊहात्मक अभिव्यक्ति दयाराम के दोहों में हुई हैं—

बल्लभ सब संसार को, ता रासी की रास।
तारा सी अरि अरि अरी, अरिपति के हम दास ॥[2]

ज्योतिष का एक अंग है शकुन शास्त्र। स्त्री की दाहिनी आँख का फड़कना अशुभ माना जाता है और बांईं बाँह का फड़कना शुभ माना जाता है। अभिसारिका संकेत स्थान पर पहुँच गई है लेकिन प्रियतम के पहुँचने में विलम्ब हो रहा है, अभिसारिका की दाहिनी आँख फड़क रही है अतः शकुन शास्त्र कहता है नायक के आने की संभावना नहीं है। वह अन्या के यहाँ पहुँच गया होगा—उसकी बाईं बाँह फड़क रही होगी—

छांहि चांहि तन छांहि पिय, अब अलि आवें नाँहि।
फरकत मो अँखि दाहिनी काहु कि बाँई बाँहि ॥[3]

शकुन शास्त्र के अनुसार यदि कौआ घर की मुंडेरी पर बैठकर बोल रहा हो तो वह किसी के आगमन की सूचना होती है। सुबह नायिका के घर पर कौआ बोल रहा था। दोपहर में पत्र आया। नायिका अपनी सखी से कहती है देख इस पत्र में क्या लिखा है? सखी कहती है—'वही लिखा है जो शकुन सुबह कौए ने दिया था। बस प्रियतम के आगमन से नायिका के गात्र पुलकित हो गए कंचुकी ढीली पड़ने लगी। शकुन शास्त्र का यह रसभरा प्रयोग कवि ने किया है।

कागद का गद राचिका, काग दए जो सोन।
सरकत सरकें कंचुकी, परसन को पियपान ॥

ज्योतिष के साथ अंकगणित का सम्बन्ध है। अंकगणित में शून्य का बड़ा महत्व माना गया है। बिहारी ने शून्य से 'दशगुनी शोभा बढ़ी' माना है। उनकी नायिका बेंदी लगाती है तो उसकी शोभा के अंक में दशगुनी वृद्धि हो

१. द० स० छन्द सं० ५२६।
२. वही सं० ६९४।
३. वही सं० १८६।

जाती है ।[1] दयाराम इसी बात को अपने ढंग से कहते हैं । शून्य की कीमत तब होती है जब वह अंक के साथ हो अन्यथा वह शून्य ही रहता है ।[2] दयाराम ने अंकों की गुणवृद्धि का एक रोचक उदाहरण दिया है । सज्जन और दुर्जनों का स्नेह ९ और ८ के गुणनफल के योग की तरह होता है । दुर्जनों का स्नेह आठ के अंक के गुणनफल के योग के समान घटता ही रहता है—जैसे ८ का दुगुना १६ हुआ और उसका (१ + ६ का) योग ७ हुआ, ८ का तिगुना २४ हुआ और उसका योग २ + ४ = ६ हुआ ८ के चौगुने में योग ३२ अर्थात् ३ + २ = ५ ही रह जाता है । दुर्जनों की प्रीति निरन्तर घटती जाती है । सज्जनों की मैत्री ९ के गुणनफल के योग की तरह है । ९ का दुगुना १८ अर्थात् १ + ८ = ९ हुआ, ९ का तिगुना २७ अर्थात् २ + ७ = ९ हुआ, ९ का चौगुना ३६ अर्थात् ३ + ६ = ९ हुआ । योग स्थिर है । सज्जनों का प्रेम भी स्थिर रहता है । यहाँ दयाराम ने गाणितिक विशेषता बताई है ।

ज्योतिष में रुचि रखते हुए भी दयाराम ने ग्रहों के बलाबल पर अधिक विश्वास नहीं दिखाया है । ग्रहों के कारण सुख-दुःख का निर्माण होता है । यह बात सही नहीं है । रावण ने नवग्रहों को बांध दिया था, नवग्रह उसका कुछ नहीं कर सके—

जो कहि ग्रह कों सुख दुखद में कहुँ वाहि अयान ।
रावन बाँधे तोन कूँ बिन रुझ दायक कांन ।।[3]

आयुर्वेद में त्रिदोष को कठिन रोग माना गया है । वात, पित्त और कफ के सन्तुलन में जहाँ गड़बड़ी हुई शरीर रोगों का आलय बन जाता है । रोगी के बचने की आशा क्षीण हो जाती है । दयाराम की नायिका भी विरह के त्रिदोषों से ग्रस्त है, उसके बचने की आशा कम है—

हिय रुंधन हरि रूप-सुधि, बिरह-ताप बच-सूर ।
अब जीवन तज आस अलि, भई त्रिदोष रुज पूर ।।[4]

ज्वर-ग्रस्त को घी नहीं दिया जाता है परन्तु ज्वरांकुश दवा के साथ घी का अनुपान दिया जाता है । वर्ज्य घी यहाँ गुणकारी बन जाता है—

---

१. बिहारी रत्नाकर दो० ३२७ ।
कहत सबै बेंदी दियें, आंकु दस गुनौ होतु ।
तिय लिलार बेंदी दियै, अगिनितु बढ़तु उदोतु ।।

२. दयाराम सतसई दो ४२३ ।

३. द० स० दोहा ५८७ ।

४. वही २३२ ।

नर विह्वार बसन अभ्रें, सो स्वस्तिक श्रीरंग।
जुरि घृत गर वहि जिमि अमी होइ जरांकुस संग ॥[१]

आयुर्वेद का एक सिद्धान्त है कि अनुपान भेद से दवा के गुणधर्म में भेद हो जाता है। दयाराम इसी बात को रेखांकित करते हैं—

सोखद सो सोखद भये, यह दिन बिन न प्रभाव।
ओर ओर अनुपान तें, भेषज ज्यों हिय भाव ॥[२]

प्रियतम की उपस्थिति के समय जो सुखद लगते थे वे ही उनकी अनुपस्थिति में शोषण करने वाले बन गए। समय की बलिहारी है, हृदय के भाव समय के अनुसार बदलते रहते हैं। दवा भी अनुपान के प्रभाव से अपना गुणधर्म बदल लेती है।

आयुर्वेद में पारे को सिद्ध करने की अनेक विधियाँ हैं। पारे की चंचलता को गन्धक के संयोग से स्थिर किया जाता है। आयुर्वेद के इसी तथ्य को लेकर दयाराम मन की चंचलता को स्थिर करने के लिए प्रेम का संयोग अनिवार्य मानते हैं—

मन रस रस-गंधक मिल्यों, चपल अचलता पाय।
और जतन बहु बुद्धि तें, ज्यों कबु गह्यों न जाय ॥[३]

वस्तुवृन्ददीपिका में दयाराम ने अपने विराट कोश-ज्ञान का परिचय दिया है। परन्तु अपनी 'सतसई' में पशु-पक्षी और वनस्पति-जीवन का बड़ा मार्मिक और आकर्षक उपयोग किया है।

रेशम का कीट रेशम के तारों से ऐसा जाल बना देता है कि अन्त में उसी में अकुलाकर प्राण त्याग देता है। मनुष्य की दशा भी यही है अपने ही प्रपंच में वह स्वयं फँस जाता है—

ग्रह-बागुर रचि रुकि गयों, म्हूर न अब निकसाय।
जैसे कीट कुसीट कों, आप मुरझि मर जाय ॥[४]

खारे पानी से भरे हुए समुद्र के बीच में रहने वाले पक्षी शक्करखोर को ईश्वर शक्कर देते हैं। समुद्र में एक ऐसी घास होती है जिससे शर्करा प्राप्त होती है। यह पक्षी उसी घास को खाता है। ईश्वर खारे समुद्र के बीच में भी शक्करखोर को उसका खाद्य देता है फिर मनुष्य को क्यों चिन्ता करनी चाहिए?

---

१. दयाराम सतसई छन्द ३९०।
२. वही छन्द सं० ४०१।
३. वही सं० ९१।
४. वही छंद सं० ४३३।

चिंता तूँ चित क्यों करें, विश्वंभर ब्रजपाल।
सक्कर सक्करखोर को, दधि मधि देत दयाल ।।[1]

केतकी भ्रमर को काँटों से वेंध देती है और कमल उसे बन्दी बना लेता है तो भी भ्रमर की प्रीति उनके प्रति कम नहीं होती है। प्रियतम दुःखदायक होने पर भी सुखकारी प्रतीत होता है—

तो हूँ सुख करहीं लगे, जो प्रीतम दुखदाय।
ज्यों केकी कों कंद अरु, कंज केतकि षट्पाय ।।[2]

कालगति रुकती नहीं है। काल चलता रहता है। प्रत्येक सुबह काल परिवर्तन की सूचना देता है। इसी बात को मुर्गा बाँग देकर और गुलाब चटक कर कहता है—'काल का आतंक सिर पर है। फिर क्यों हरिस्मरण नहीं करता है—

अरुनसीख जनु टेरि कहि, चुटकी बजइ गुलाब।
अरि अतंक सिर तहुँ न क्यों, हरि जप करे सताब ।।[3]

गर्मी में अन्य पेड़-पौधों को मुरझाया और कष्ट में देखकर आक, जवासा खुश होकर प्रफुल्लित हो जाते हैं। दुष्ट भी परकष्ट में पुष्ट रहते हैं—

पुष्ट रहे पर कष्ट में, ए ही दुष्ट सुभाय।
आक जवासा ग्रीस्म में, हरे और दुःख पाय ।।[4]

पशु-पक्षी और वनस्पति जगत से दयाराम अच्छी तरह से परिचित थे। उनकी विशेषताओं को जानते थे। इनमें कुछ सामान्य हैं जिन्हें सब जानते हैं। परन्तु कुछ ऐसे हैं जिनकी जानकारी सामान्य जन को नहीं रहती है—जैसे शक्करखोर, निपटा, गुलम्हेरी आदि। केवल नाम परिगणन ही दयाराम ने नहीं किया है अपितु उनकी विशेषताओं का भी उन्होंने अध्ययन किया है।

काव्यशास्त्र की परम्परा का दयाराम को अच्छा ज्ञान था। छन्दशास्त्र पर तो उनकी अपनी 'पिंगलसार' नामक स्वतन्त्र पुस्तक भी है। एक ओर वे कृष्ण को ही काव्य का सर्वाधिक श्रेष्ठ विषय मानते हैं परंतु दूसरी ओर वे कठोर काव्य के हिमायती भी हैं। काव्य की परिभाषा में वे एक महत्वपूर्ण बात कह देते हैं कि काव्य वही अच्छा है जिसमें कवि का हृदय बोलता हो। काव्य कवि का वह प्रतिनिधि है जिसके द्वारा वह प्रत्यक्षतः जाना जा सकता है—

---

१. दयाराम सतसई सं० ३४८।
२. वही सं० ६४६।
३. वही छ० सं० ४४५।
४. वही छ० सं० ४७०।

काव्य देखि हुई कराम्लक, कवि के हिय की बात।
मूल रूप प्रतिनिधी तें, हू-ब-हू जांन्यों जात ॥[1]

दयाराम कल्पना में विहरणशील कवि नहीं थे। लोकानुभव की कठोर भूमि पर खड़े सत्य के अन्वेषी थे। लोगों की रीति-नीति, आचार-व्यवहार, भय-पीड़ा, रोष-ईर्ष्या का सूक्ष्म निरीक्षण कर वे काव्यक्षेत्र में आये थे। कबीर की तरह दयाराम ने भी 'देखो' कही है। देखा जाता है कि कर्मरत रहने पर भी सिद्धि नहीं प्राप्त होती है, सुख नहीं मिलता है। बैल दिन भर कोल्हू का चक्कर काटता रहता है उसे आराम कहाँ ? उधर देखिए साँड़ महाराज फ़ुरसत में रहते हैं—

हरि आश्रय बांनो सुबड़, केवल कति हि न सत्य।
बैल दुखी वलीवर्द सुख, जिमि देखहु दुहु कृत्य ॥[2]

प्राय: कलिकाल के राजा अपने निर्णय में न्याय और धर्म की उपेक्षा करते हैं। केवल तलवार पर ही उनकी श्रद्धा रहती है—

दुस्तर या कलिकाल में, धर्म न्याय नहि दाव।
निर्नें ठाने नृपादिक, जो जोरावर भाव ॥[3]

राजसुख विष-मोदक के समान है। बाहर से सुन्दर किंतुपरिणामतः दुःखदायी होता है। राजा मन्त्रियों पर भरोसा रखता है पर यदि मन्त्री धोखा देते हैं तो राजा हार जाता है। मनुष्य रूपी राजा भी मन रूपी धोखेबाज़ मन्त्री के इशारों पर चलता है इसलिये हारता रहता है—

मन अजीत उल्टों चल्यों, सुनिहीं प्रभु मम राव।
दया कियों परधान ज्यों, नृप जीतत नहि दाव ॥[4]

दयाराम के जमाने में सती प्रथा का महत्व था। उसे श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता था। दयाराम इसी अनुभूति से अभिभूत होकर माँ के प्रेम से भी बढ़कर स्वकीया के प्रेम को मानते हैं—

अंबादिक कों आहि पें, अबला दोहद हृद्य।
वे रोवें ऐ तन तजें, पति प्रयान लखि सद्य ॥[5]

दयाराम की सती प्रथा पर इतनी आस्था थी कि स्वकीया के लक्षण में उन्होंने इसका भी समावेश कर दिया है—

---

१. दयाराम सतसई।
२. वही छं० सं० ३४९।
३. वही छन्द ६१८।
४. वही छन्द ३६।
५. वही छन्द ६४०।

वंशवृद्धि, सोभा सदन करें सहगमन सोइ।
स्वकीया की यह तीन कृति, परकीय कबू न होइ ॥[१]

दयाराम अपने जमाने की आनन्द-प्रमोद की प्रवृत्तियों के अच्छे जानकार थे। संगीत की बात प्रथम ही कही जा चुकी है। संगीत एक अभिजात्य-वर्ग तक सीमित था। सामान्य लोगों के लिए शतरंज, चौपड़ और गंजीफा मनोरंजन के माध्यम थे। शतरंज के मोहरों में पदाति आगे बढ़ने के लिए सीधे चलते हैं। परन्तु जब मार करनी होती है तो उनकी चाल टेढ़ी हो जाती है। प्यारे के नयनों की गति के साथ शतरंज के प्यादे की तुलना करते हुए दयाराम कहते हैं—

सहज गती सूधी चलें, तिरछे पर जिय लेंन।
भे बुधवल के पदाती प्यारे त्हारे नैंन ॥[२]

दयाराम चौपड़ की खूबियों को भी जानते थे। चौपड़ में दूसरे को हराने के लिए अपनी पक्की गोटी कच्ची बनानी पड़ती है। इससे कभी-कभी हराने वाला कठिनाई में भी पड़ जाता है।

अति हठकरि जो पर बुरों करें न लहि सुख सोइ।
आई निजके सार हति स्वपकि कच्ची होई ॥[३]

सामान्य जन-जीवन का उनका निरीक्षण सूक्ष्म था। चश्मा-दूरबीन से लेकर मूसा-तराजू तक की करामातों का उन्हें पता था। सामान्य मनुष्य ही नहीं बड़े से बड़े भी पेट के गुलाम होते हैं। पेट की लाचारी के सामने सभी नत-मस्तक हो जाते हैं, भाले-बरछी की मार के सामने जो नहीं झुकते हैं वे करछी की मार के सामने आत्म-समर्पण कर देते हैं। भीष्म सदृश भद्र पुरुष भी इससे नहीं बच सके—

नाथ उदर नाहक दियों, भल कर पाद श्रुति बाक।
एक याहि लगी जात है धर्म, तेज बल नाक ॥
जो न बरछि तरछी डरें, मरें सु करछी मार।
देखों बड़ भड़ भीसम सें, कौरों किय बस आहार ॥[४]

यह रोज का अनुभव है कि रोटी और गंडेरी एक साथ नहीं खायी जा सकती हैं। क्योंकि एक को चबाकर निगलना होता है दूसरी को चूसकर

---

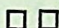
१. दयाराम सतसई छंद सं० १९६।
२. वही छन्द ३६६।
३. वही छंद सं० ३६६।
३. वही छंद सं० ५१४, ६६३।

उगलना होता है। इसी सामान्य तथ्य का निरूपण करते हुए दयाराम कहते हैं—

> प्रीति जुरि प्रकृति न मिलि, वह दुहु पख दुख पाय।
> रोटी गंडेरी चबी, क्यों डारे क्यों खाय ॥[1]

दयाराम की जानकारी का क्षेत्र बहुत विशाल है। शास्त्रों से लेकर लोक के दैनंदिन व्यवहार तक उनकी सूक्ष्म अवलोकन शक्ति की पहुँच दिखाई देती है। शायद उनका यायावरीय जीवन उनकी निपुणता का एक प्रमुख स्रोत रहा हो। उनकी बहुश्रुतता और बहुज्ञता के कारण ही उनका यह दावा सही है कि 'सतसई' लोक और शास्त्रसम्मत ग्रन्थ है—

> ज्ञान भक्ति सुविवेक युत, प्रेमादिक प्रस्ताव।
> पूर्व ग्रन्थ सम्मत ललित, नागरता हरि फाव ॥[2]



१. दयाराम सतसई छं० सं० ६४२।
२. वही सं० ७२६।

३. दयाराम की हिन्दी रचनाएँ

दयाराम अपने समय के अत्यन्त बहुश्रुत और बहुविद् कवि रहे हैं। अनेक भाषाओं में उनकी रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। गुजराती उनकी मातृभाषा थी। अतः उसमें गुण और मात्रा की दृष्टि से उनकी उतनी ही मूल्यवान् रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं। इनके अतिरिक्त संस्कृत, मराठी, पंजाबी आदि भाषाओं में भी उन्होंने साहित्य-सर्जन किया है। दयाराम का एक ऐसा भी छप्पय उपलब्ध है जिससे उनके भाषा ज्ञान का परिचय मिलता है—

गिरिधर मुंजै प्राण[१] तुं हि सामलडा प्यारा।[२]
मादर पिदर बिरादर[३] दुश्मन खलक बिसारा॥[४]
माटा मुंची बिनिपु[५] सामी तिकड़े तिकड़े इकडारा।[६]
जानी जिय की पीर[७] मनोरथ पूर्या मारा॥[८]
हरि नको कोण चा प्रेम[९] वै त्वमेव स्वामी निरन्तर।[१०]
नन्द महेर को पुतवा दया[११] प्रभु थांकी दासी मांको कांई डर॥[१२]*

यह तो एक प्रयोग मात्र है। निःसंदेह पादविहारी दयाराम को बहुत-सी भाषाओं का सामान्य ज्ञान रहा होगा। कहा जाता है कि उनकी तीन कृतियाँ मराठी में, कुछ पद मारवाड़ी और पंजावी में भी मिलते हैं। परन्तु ग्रन्थ-रचना की दृष्टि से गुजराती और हिन्दी में ही उनका योगदान महत्वपूर्ण है।

सर्वप्रथम कवि नर्मद * ने दयाराम की ३७ हिन्दी रचनाओं का और ३८ गुजराती रचनाओं का उल्लेख किया है। गुजराती साहित्य के इतिहासकारों ने प्रायः हिन्दी की ४१ और गुजराती की ४८ रचनाओं के कर्त्ता के रूप में दयाराम को साहित्य-सृजन का श्रेय दिया है। इन ग्रन्थों की रचनाओं के अतिरिक्त गुजराती में सात हजार, व्रजी में बारह हजार, मराठी में दो सौ, पंजावी में चौवीस, संस्कृत में पन्द्रह और उर्दू में पचहत्तर पद फुटकर रूप में उपलब्ध होते हैं।[१३]

---

* (१) कच्छी भाषा (२) पंजाबी (३) फारसी (४) उर्दू (५) तेलुगु (६) तमिल (७) हिन्दी (८) गुजराती (९) मराठी (१०) संस्कृत (११) पूरबी (अवधी) (१२) मारवाड़ी। दे० दयाराम सं० भोगीलाल सांडेसरा पृ० ७।

* गुजराती के प्रसिद्ध लेखक और समाज सुधारक।

१३. बृहद् काव्य दोहन भाग—५, पृ० ४७।

वास्तव में मातृभाषा के अतिरिक्त हिन्दी से दयाराम का प्यार अनोखा था। गुण और मात्रा की दृष्टि से उनकी हिन्दी रचनाएँ उत्कृष्ट हैं। अधिकांश रूप से इन रचनाओं की भाषा हिन्दी की उपभाषा व्रजभाषा रही है। मध्यकाल में व्रजभाषा समग्र उत्तर और पश्चिम भारत की मान्य साहित्यिक भाषा थी। यह भारतव्यापी भाषा थी। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के पश्चात् सर्वजन-व्यवहार भाषा के रूप में भी व्रजभाषा का ही उपयोग होता था। गुजरात के अनेक पूर्ववर्ती कवियों ने भी व्रजभाषा में अपनी रचनाएँ की हैं। इनमें केशवदास, भालण, अखो और शामल विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। दयाराम इसी परम्परा में आते हैं। व्रजी के अतिरिक्त उर्दू में भी दयाराम ने फुटकर रससिक्त रचनाएँ की हैं। हिन्दी के इस रूप पर भी उनका अच्छा अधिकार था—

अल्लाह को मिला चाहे तो मैंय को बिसार जा।
अगर इश्क किया चाहे तो, तू शिर को बिसार जा॥

दयाराम की कुल ४८ हिन्दी रचनाएँ ग्रन्थरूप में मिलती हैं जिनमें २६ प्रकाशित हैं और २२ अप्रकाशित अवस्था में हैं—

(१) प्रकाशित रचनाएँ—	संकलन
१—अकल चरित्र चन्द्रिका	दयाराम कृत काव्य संग्रह
	दयाराम कृत काव्य मणिमाला १-६ भाग
	सम्पादक जीवनलाल जोशी
२—अनुभव मंजरी	
३—कौतुक रत्नावली	दयाराम कृत काव्य मणिमाला—६
४—क्लेश कुठार	,, ,, ,, १
५—नाम प्रभाव बत्तीसी	,, ,, ,, ५
६—पिंगलसार	,, ,, ,, ६
७—पुष्टिपथ रहस्य	प्राचीन काव्यमाला २ द० का० म० मा० २
८—पुष्टिपथ सारमणिदाम	द० का० म० मा० ५
९—पुष्टि भक्त रूपमालिका	,, ५
१०—भागवत अनुक्रमणिका १८७९	प्राचीन काव्यमाला ११, द० रसथाल
११—भक्ति विधान	द० का० म० मा० ५
१२—मूर्खलक्षणावली	प्र० का० मा० १३
१३—रसिक रंजन	दयाराम काव्यसुधा
१४—वस्तुवृन्ददीपिका १८७४	दयाराम काव्य संग्रह

* के० का० शास्त्री के अनुसार संदिग्ध रचना है—देखिए : भक्त कवि दयाराम ने नामे चढेल कृतिओ। ले० 'दया० शता० स्मृति—पृ० १७६।

१५—विज्ञप्ति विलास	द० का० म० मा० ५
१६—वृन्दावन विलास	" ६ द० का० सुधा
१७—श्रीकृष्ण अकल चन्द्रिका	दयाराम काव्य सुधा
*१८—श्रीकृष्ण नामामृतधारा	(संस्कृत: दवे) द० का० म० मा० ६
१९—श्रीकृष्ण नामामृत ध्वनि	" ६
२०—श्रीकृष्ण नाममाहात्म्य मंजरी	" ६
२१—श्रीकृष्ण स्तवनामृत	" ६
२२—सतसैया १८७२	द० का० म० मा० ५ स्वतन्त्र : डॉ० अम्बाशंकर नागर
२३—सम्प्रदाय सार	द० का० म० मा० १
२४—सिद्धान्तसार	" ६
२५—हरिदास मणिमाला	" ६
२६—हरिस्वप्न सत्यता	अनुमंजरी के साथ

(२) अप्रकाशित कृतियाँ

१—अनन्य चन्द्रिका
२—ईश्वर प्रतिपादक
३—गुरुपूर्वार्द्ध बहुशिष्य उत्तरार्द्ध
४—चातुर चतुर विलास
५—चिन्तामणि
६—दशमस्कन्धानुक्रमणिका
७—प्रस्ताव चन्द्रिका
८—प्रास्ताविक पीयूष
९—भगवान्-भक्तोत्कर्षता
१०—भगवत्-इच्छोत्कर्षता
११—मायामत खण्डन
१२—मंगलानन्द मालिका
१३—विश्वासामृत
१४—श्रीकृष्ण नाम चन्द्रकला
१५—श्रीकृष्ण नाम चन्द्रिका
१६—श्रीकृष्ण नाम रत्नतालिका
१७—श्रीकृष्ण नाम माहात्म्य
१८—शुद्धाद्वैत प्रतिपादन

---

* दयाराम : एक अध्ययन (गु०) के आधार पर ले० सुभाष दवे पृ० २८९ ।

१९—स्तवन पीयूष
२०—संशयच्छेदक
२१—स्वल्पाहार प्रभाव
२२—श्री भागवत् माहात्म्य

गुजराती के कवि नर्मद ने दयाराम की सर्वप्रथम रचना 'काशी विश्वनाथ की लावणी' को माना है, तदनन्तर दयाराम गुजराती और हिन्दी में रचनाएँ करते रहे। सम्प्रति उनकी जो हिन्दी रचनाएँ प्रकाशित या अप्रकाशित ग्रन्थों के रूप में सामने आई हैं उनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। इनके अतिरिक्त अनेक ग्रन्थ तथा प्रकीर्ण पद-साहित्य हस्तलिखित रूप में बिखरा पड़ा है जिसकी छानबीन होनी शेष है।

दयाराम के ('सतसई' के अतिरिक्त) कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है—

१. रसिक रंजन—इसमें १७ प्रकरण हैं। गुजराती में 'रसिकवल्लभ' और हिन्दी में 'रसिक रंजन' प्रायः एक ही विषय को लेकर लिखे गए प्रतीत होते हैं।

'रसिक रंजन' में शुद्धाद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन तथा मंडन किया गया है। भक्ति के विभिन्न पहलुओं पर भी प्रकाश डाला गया है। अनन्यता, भगवदाश्रयता, दीनता, कृपा, भगवदिच्छा आदि विषयों पर काव्य की मधुमयी वाणी में विचार किए गए हैं। इसमें कुण्डलियाँ, मत्तगयंद छन्दों का प्रधान रूप से उपयोग हुआ है।

२. श्रीकृष्ण अकल चन्द्रिका—इसमें 'दुवैया' छन्द के माध्यम से भगवान् के अकलित चरितों का वर्णन किया गया है। भगवान के अनेक चरित हैं, जो आपस में विरोधी भी हैं। इसलिए इनको जानना कठिन है। भगवान् के विरुद्ध धर्माश्रयित्व के अनेक दृष्टान्त दिए गए हैं।

३. सिद्धान्त सार—इसमें कुल ४१ पद हैं। इसमें भी 'शुद्धाद्वैत' के सिद्धान्तों को व्याख्यायित करने का प्रयत्न किया गया है।

४. श्रीकृष्ण स्तवनामृत—१७६ पदों का यह ग्रन्थ है। इसमें कृष्ण की भक्ति की महिमा का वर्णन किया गया है। भक्ति को मानव जीवन के लिए अमृत के समान बतलाया गया है।

५. भक्ति विधान—इसमें भी भक्ति तत्व की ही व्याख्या की गई है। भक्ति की महत्ता के साथ पुष्टिमार्ग की सर्वोत्तमता का समर्थन प्रभावशाली ढंग पर किया गया है। कवि ने अपने अनुभवों को भी स्थान दिया है।

६. पुष्टिपथ सारमणिदाम—इसमें पुष्टिमार्ग के भक्तों के लिए विविध विधान किए गए हैं। पुष्टिमार्ग के अनुसार ठाकुरजी के सेव्य रूपों, अष्ट

सखाओं और मार्ग की बैठकों का (गद्दी) विवरण दिया गया है। वास्तव में पुष्टिमार्ग के इतिहास को इकट्ठा करने का प्रयत्न किया गया है।

७. विज्ञप्ति विलास—अपने अपराधों को प्रभु के सामने रखकर दीनभाव के स्फुरण के लिए याचना की गई है। इसमें १५१ पद हैं।

८. नाम प्रभाव बत्तीसी—कवि द्वारा 'केवल श्रीकृष्ण को, कीर्तन ही है सार'—के रूप में प्राप्त गुरु-आज्ञा से यह ग्रन्थ ३२ पंक्तियों में लिखा गया है। इसमें श्रीकृष्ण के नामों के प्रभाव का वर्णन किया गया है।

९. श्रीकृष्ण स्तवन चन्द्रिका—इसमें कुल ११६ पंक्तियाँ हैं जिनमें श्रीकृष्ण के नाम की महिमा का वर्णन किया है।

१०. श्री पुष्टि भक्त रूपमालिका—इसमें एक पद में श्री वल्लभाचार्य जी के ८४ वैष्णवों की नामावली दी गई है।

११. वस्तु वृन्ददीपिका—यह काव्यात्मक ज्ञानकोष के समान है। इसमें १ से लेकर १०८ तक की संख्या को लेकर उस संख्या के वस्तु-समूह का वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

यह एक परम्परा संस्कृत, प्राकृतों से होती हुई मध्यकाल तक आई और उसका प्रयोग अनेक कवियों ने किया है। ७०० से ७५० पदों में रचित यह ग्रन्थ दयाराम के विशाल ज्ञान और गाढ़ विद्वत्ता का सूचक है। दयाराम ने वस्तुक्रम में ध्येय तो श्रीकृष्ण के गुणानुवाद का ही रखा है। अनेक छन्दों का इसमें विनियोग हुआ है। इसका रचनाकाल वि० १८७४ है।

१२. पिंगलसार—छन्दशास्त्र का यह ग्रन्थ है। इसमें ५२ सम, अर्धसम और विषम छन्दों की रचना विधि दी गई है। छन्दों के लक्षण और उदाहरण दिए हैं। अपने उदाहरण भी दिए हैं। उदाहरण मुख्यतया श्रीकृष्ण विषयक ही हैं।

१३. अनुभव मंजरी—कवि के स्वप्न और प्रत्यक्ष अनुभवों का इसमें वर्णन है। मुख्यतया श्रीकृष्ण, राधा, गुरु और अन्य कृष्ण सखाओं के साथ विभिन्न समयों और स्थानों पर साक्षात् या स्वप्न में कवि ने जो कुछ देखा उसका वर्णन इस ग्रन्थ में हुआ है। यह एक बृहत्काय ग्रंथ है।

दयाराम के उक्त साहित्य पर सामान्य रूप से दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होता है कि दयाराम का काव्य-संसार भक्त और कवि के बीच विभाजित हुआ है। एक ओर चुस्त धार्मिक सिद्धान्तों से प्रतिबद्ध रचनाएँ हैं, दूसरी ओर श्रृंगार और लोक-व्यवहार पर आधृत रचनाएँ हैं। दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र में उत्कृष्ट हैं।

दयाराम की हिन्दी रचनाओं को वर्गीकृत करने का सर्वप्रथम प्रयत्न डॉ०

अम्बाशंकर नागरजी ने किया है। उन्होंने ही सर्वप्रथम दयाराम की हिन्दी कृतियों को तीन वर्गों में विभाजित किया है[1]—

(१) सैद्धान्तिक और साम्प्रदायिक
(२) भावात्मक और भक्ति-शृंगारात्मक
(३) रीति एवं काव्यशिक्षा विषयक

इधर दयाराम ने अनेक दोहे, सोरठे और छप्पय ऐसे भी प्रभूत मात्रा में मिले हैं जिनका नीति और सूक्ति के रूप में अपना अलग महत्व है। 'सतसई' में भी नीति के दोहों की संख्या अधिक है। इसलिए काव्य के इस पक्ष को भी उक्त वर्गीकरण में समाविष्ट करना समीचीन होगा। अतः मेरा सुझाव है कि दयाराम के उपलब्ध काव्य को चार विभागों में विभाजित करना उचित होगा—

(१) सैद्धान्तिक और साम्प्रदायिक
(२) भक्ति काव्य
(३) रीतिकाव्य और
(४) नीति काव्य।

१. सैद्धान्तिक और साम्प्रदायिक काव्य—

दयाराम की सैद्धान्तिक रचनाओं में प्रधानतया शुद्धाद्वैत के प्रतिपादन और पुष्टिमार्ग की व्याख्या का स्वर प्रधान रहा है। इनमें अपरमत का खण्डन और स्वमत का मण्डन बड़े प्रभावी और समर्थ शब्दों में किया गया है। अपने मत के समर्थन में दयाराम ने कहीं-कहीं पर कठोरता का भी आश्रय लिया है। अद्वैतवादियों को मूर्ख, खल, काना आदि भी कहा गया है—

ब्रह्म सनातन आदिस्वयंभू, अनूप अनामय अंशी अकामी।
ए सब धर्म करौं जियमें कहि देत दयो सम कहे अथगामी॥
आनन्दमाल हि आननपानिपदादि, सबे हरि बेद की बानी।
सो छबि प्राकृत जीवसी जानत, जाकुँ ब्रह्म कहे खल ज्ञानी॥

और—

तेरे मत में ब्रह्म निराकार, जिय प्रतिबिंब।
माया बिच पर्यो कहे, केसे सांच ठरेगो॥
माया तो मलिन और, ब्रह्म कुं न रूप मूढ।
तूँहि कहे बिंब बिना, प्रतिबिंब परेगो ?॥[2]

अद्वैतवादियों को अनेक तर्कों से अनुत्तरित कर दयाराम ने पुष्टिमार्गीय

---

१. दयाराम सतसई भूमिका
२. रसिक रंजन।

भक्ति का सबल समर्थन किया है। भक्ति को गाय कहा गया है, ज्ञान-वैराग्य तो उसके बछड़े हैं, उसके दूध पर पलते हैं। भक्ति के सामने मुक्ति भी तुच्छ है। वह तो भक्ति की दासी है—

ज्ञानी भक्त सों क्यों लरत, बिना किये अनुमान।
कृष्ण आप फल भक्ति दे, वाहि मुक्ति को दान ॥[1]

ये दार्शनिक ग्रन्थ केवल अपने मत के प्रतिपादन के लिए लिखे गये हैं। इनमें साहित्य तत्वों का प्रायः अभाव है। भक्ति-विधान, रसिक-रंजन, सिद्धांत-सार, सम्प्रदायसार, पुष्टिपथ रहस्य आदि रचनाओं में स्वमत समर्थन का सर्वग्राही आग्रह है। इस प्रकार इन ग्रंथों में दयाराम शुद्धाद्वैत और पुष्टिमार्ग के प्रबलतम समर्थक के रूप में हमारे सामने आते हैं।

२. भक्ति-काव्य—

दयाराम उच्चकोटि के भक्त थे। उनका सारा ध्यान कृष्ण पर केन्द्रित हो गया था। वे कृष्ण के थे और कृष्ण उनके थे। जीव की मर्यादा से वे परिचित थे इसलिए कृष्ण के प्रति अथाह प्यार लिए भक्ति-सागर में निमग्न थे। भक्ति ईश्वर में परम अनुरक्ति है—सा हि परानुरक्तिः ईश्वरे। अनुरक्ति के साथ उसकी पीड़ा, व्याकुलता, मिलनेच्छा आदि सभी बातें भक्ति के साथ स्वाभाविक रूप से जुड़ जाती हैं। भक्ति में श्रृंगार आ जाता है, श्रृंगार भक्तिमय हो जाता है—

श्याम मेरे नेंन बीच समाय रह्यो,
लोक जाने है कजरो।
जित देखुं तित माशूक मोहन,
नेंन ही से मजरो।
प्रान प्रीतम मेरे हार हिया के,
हाथन को गजरो।
दया के प्रभु की छब चित्तन चुंभी,
ताको उर साचो बजरो।
श्याम मेरे नेंन बीच समाय रह्यो!

एक बार प्रियतम के दर्शन हो गये तो वे नैनों में ऐसे समा गये कि जहाँ-जहाँ दृष्टि पहुँचती है वहाँ-वहाँ प्रियतम ही दिखाई देते हैं—

मुकर मुकर सब वस्तु भई, नयन अयन किय लाल।
द्रग पसारुं जित-जित अली, तित-तित लखुं गुपाल ॥

---

१. द० सतसई छंद ३११।

भक्ति शृंगार की ये रचनाएँ वास्तव में दयाराम को एक उच्चकोटि के कवि के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत करती हैं। 'दयाराम घोर शृंगारी कवि हैं, भक्ति तो बहाना है, उन्होंने रूप और यौवन के उद्दाम चित्रों को भक्ति का जामा पहनाया है' —गुजराती साहित्य के कुछ आलोचकों ने दयाराम की रचनाओं में व्यक्त राधा-कृष्ण की लीलाओं को देख कर यह आक्षेप किया है। गुजराती साहित्य में विशेषतया गरवा और गरवियों में प्रेम का जो उद्वेग और उल्लास दिखाई देता है वह हिन्दी रचनाओं में प्रायः नहीं मिलता है। हिन्दी में उनका भक्ति शृंगार संयत है। 'सतसई' में बहुत मादक चित्र नहीं हैं। भक्त की आकुलता और दीनता ही अधिक प्रकट हुई है। 'सतसई' में भक्त तो पतित है, अधम है। कृष्ण ही उसके उद्धारक हैं। संसार में मायाग्रस्त भक्त का आर्त आलाप है।

धुनें धार सांचच्यों ठयों, तम्हारो हों घनश्याम।
हें न दॆन को दंड कछु, घर को करों गुलाम ॥
डार्यों मों भों जलधि हरि, अजा उपल बधिपाय।
दारु कर दियो नाउं निज, तर्यो न बूर्यो जाय ॥

भक्ति काव्य में 'रसिक रंजन' और 'सतसई' साहित्यिक दृष्टि से सफल रचनाएँ हैं। अन्य रचनाएँ यथा श्रीकृष्णनाम चन्द्रिका, श्रीकृष्ण स्तवन चन्द्रिका, नाम प्रभाव बत्तीसी और स्तवन पीयूष आदि रचनाएँ स्तुति-प्रार्थना परक हैं। कुछ अन्य रचनाएँ नाम कीर्तनात्मक हैं। दयाराम के भक्ति-काव्य के अन्तर्गत वे रचनाएँ भी आती हैं जिनका आधार श्रीमद्भागवत है। भागवत पुष्टिमार्गी वैष्णवों का प्रेरणा स्रोत रहा है। श्रीमद्वल्लभाचार्य जी ने भागवत को वेद-उपनिषद, गीता और ब्रह्मसूत्र के समान महत्व प्रदान किया है। दयाराम ने भागवत-माहात्म्य, दशम स्कंधानुक्रमणिका, श्रीमद्भागवतानुक्रमणिका आदि रचनाएँ कर श्रीमद्भागवत के प्रति अपनी आस्था प्रकट की है। भक्ति सम्बन्धी अनेक सुन्दर रचनाएँ दयाराम के स्फुट पदों में भी मिलती हैं।

३. रीतिकाव्य—

दयाराम रीतिकाल के अन्त में आते हैं। रीतिकाल अपने शृङ्गार और काव्य शिल्प के विषय में बड़ा आग्रही रहा है। रीतिकाल की कविता न समाज-सुधार के लिए थी न परात्पर शक्ति का साक्षात्कार करने की उसमें लालसा थी। वह शुद्ध कविता थी। रूप की लालसा, प्रेम की पिपासा और कारीगरी की आकांक्षा उसमें यत्र-तत्र-सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। दयाराम इस प्रवाह से असंपृक्त न रह सके। 'सतसैया' और 'रसिक रंजन' के शृङ्गार-निरूपण में उनकी यह प्रवृत्ति स्पष्टतः दिखाई देती है। बिहारी ने अपनी चन्द्रमुखी के लिए मोहल्ले भर में पंचांग की निरर्थकता सिद्ध की है, तो दयाराम

चुपके से श्यामा को सलाह देते हैं कि सुबह बिना घूंघट निकाले पनघट मत जाना नहीं तो चकवा-चकवी फिर उदास हो जायेंगे—

श्यामा तूं जिन जाइं सर, बिन घूंघट पर द्योस।
परिहें तेरों बदन लखि, भोंर कोक मुख सोस॥

रीतिकाल की दूसरी परम्परा थी काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का प्रणयन करना। दयाराम ने भी 'पिंगलसार' ग्रंथ रचकर इसी परम्परा का अनुसरण किया है। 'वस्तुवृन्ददीपिका' में दयाराम का पाण्डित्य प्रकट हुआ है।

रीतिकाल की तीसरी प्रवृत्ति थी चमत्कार सर्जन की। दयाराम ने अनुप्रास, यमक जैसे शब्दालंकारों से काफी हद तक शब्दक्रीड़ा की है।

मोहि मोह तुम मोंह को, मोहेन मो कहुँ धारि।
मोहन मोहन वारियें, मोहनि मोह निवारि॥

× × ×

राजरूप रसपान सुख, समुझत हैं मों नैन।
पें न बेंन हैं नेन कों, नेन नहीं हैं बेंन॥

× × ×

मथुरा बीच को बरन तजि रहे उलटी रही दोष।
जो ना रहत तो वदन बीच समुजी तजो हे सोय॥

४. नीति-काव्य—

दयाराम कथावाचक थे। कीर्तनकार थे। कथावाचक होने के कारण उन्हें जनता के सामने संसार के आचार-विचार, धर्म-व्यवहार, रीति-नीति, स्वभाव-परभाव पर दृष्टान्त भी देने पड़ते होंगे। अतः उनकी रचनाओं में सांसारिक गतिविधियों पर टिप्पणियों, सूक्तियों का आना स्वाभाविक है। साहित्य में नीति-वाक्यों की यह परम्परा बहुत पुरानी है। हिन्दी में भी तुलसी, रहीम, बिहारी की मार्मिक सूक्तियाँ मिलती हैं। दयाराम ने भी अपने दैनिक अनुभवों को समर्थ, मार्मिक और मौलिक रूप में प्रस्तुत किया है। उनकी ये नीति सूक्तियाँ हिन्दी साहित्य की सर्वोत्तम सूक्तियों से टक्कर लेने में समर्थ हैं। इस पर विस्तृत रूप से आगे विचार किया गया है।

□

४. सतसई-परम्परा में दयाराम सतसई

जीवन के प्रभात में प्राची में उदित अपनी किरणों से चैतन्य का संचार करने वाली उषा को देखकर वैदिक जन के हृदय में आह्लाद का सागर उमड़ पड़ा और उसके अधरों पर बरबस पंक्तियाँ थिरक उठीं—

अंग अंग से चैतन्य उगलती सी
प्रकाश नहाती सी
एकदम खड़ी हो गयी
—कि हम मर्त्य इस स्वर्ग की पुतली को
क्षण भर देख सकें
—और हमारे जीवन से अन्धकार सब दूर हो जाय।[1]

इनमें न कथा का तन्तु है न पूर्वापर की अपेक्षा। अपने आपमें आनंदित हृदय की उन्मुक्त तरंगें हैं। इनसे एक परिस्थिति को अंकित किया गया है, एक कल्पना को आकार दिया गया है। ऋग्वेद ऐसे ही मुक्तकों का सर्वप्रथम संग्रह है।

जीवन का क्रम ज्यों-ज्यों विकसित होता गया त्यों-त्यों परिस्थितियाँ जटिल होती गईं। मानव की विचारधारा ऐहिक और पारलौकिक तत्वों को ग्रहण करती हुई आगे बढ़ने लगी। गूढ़ विचारों का दौर चला। लम्बी-लम्बी कथाएँ अस्तित्व में आईं। दर्शनों की तलाश होने लगी। महाकाव्यों का प्रणयन हुआ। मानव-मन प्रकृति-दर्शन के लिए यद्यपि विस्तृत वनस्थली पसन्द करता है, किंतु घर सजाने के लिए उसे एक गुलदस्ता ही काफी है। प्रबन्ध काव्य, आख्यान, नाटक और कथाओं के होते हुए भी कवि अपने आपको उच्छ्वसित मुक्तकों से विरक्त न कर सका। जब कभी उसको मौका मिला, अपने हृदय के निरीक्षण को उसने वाणी के वस्त्र पहनाये—

असारे खलु संसारे सारं श्वसुरमंदिरम्।
हरो हिमालये शेते हरिश्शेते महोदधौ॥
गम्मिहिसि तस्स पासं सुन्दरि, मा तुरअ वड्ढअ मिअंको।
दुद्धे दुद्ध मिअ चन्दिआइ को पेच्छइ मुहं दे॥[2]

---

१. ऋग्वेद ५. ८०. ५-६ :
२. [जा रही हो उसके पास सुन्दरि। जल्दी क्यों ! चाँद बढ़ रहा है। दूध में जैसे दूध, वैसे चांदनी में तेरा मुखड़ा कौन देख सकेगा]

—गाहा सतसई

कथाभिनिवेशी साहित्य और पूर्वापरनिरपेक्ष साहित्य दोनों ही सामान्य रूप से चलने लगे। पंडितों ने इन दोनों को काव्य में समेट लिया। एक प्रबन्ध काव्य के रूप में सामने आया, दूसरा मुक्तक रूप में। प्रबन्ध काव्य का अपना विस्तार है, अपना परिसर है। महाकाव्य उसका सर्वोत्तम रूप है। मूक्तक मस्त-मौला है। उसे न ऊधौ से लेना है न माधौ को देना है। वह अपने आप में सम्पूर्ण है। काव्यशास्त्र मीमांसकों ने इसे भी व्याख्या में बाँधने का प्रयत्न किया है—

(१) विनाकृतं विरहितं व्यवच्छिन्न विशेषितम्।
भिन्नं स्यादथ निर्व्यूढं मुक्तकं चातिशोभितम्॥[1]

(२) मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम्।[2]

(३) छन्दोबद्ध पदं पद्यं तेनैकेन च मुक्तकम्।[3]

मुक्तक स्वतन्त्र और पूर्वापरनिरपेक्ष होता है। वह सुन्दर, मार्मिक और चमत्कारजनक भी है। उसकी एक झलक ही मन्त्रमुग्ध करने में समर्थ है। इन विशेषताओं का समाहार करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने मुक्तक को मूलतः रससिक्त रचना कहा है पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्।[4]

मुक्तक अपने आपमें स्वतन्त्र होता है। अपने आपमें जो रसोद्रेक कराने में समर्थ होता है, पाठकों के मन को मुग्ध कर देता है वही मुक्तक है। मुक्तक में एक चमत्कार, एक रससिक्त अनुभूति, एक मोहक चित्र, एक मार्मिक विधान प्रस्तुत करने की अद्भुत क्षमता होती है। विभाव, अनुभाव और संचारी एक ही उक्ति में केन्द्रित होकर पाठक पर अपना ऐसा प्रभाव डालते हैं कि पाठक रस-मग्न हो जाता है। प्रबन्धकाव्यों की तरह इनमें भी रसास्वादन-क्षमता होती है। आनन्दवर्द्धनाचार्य का स्पष्ट कथन है—तत्र मुक्तकेषु रस-बन्धाभिनिवेशिनः कवेस्तदाश्रयम्। रसबन्धाश्रयम् औचित्यम्। मुक्तकेषु प्रबन्धे-ष्विव रसाभिनिवेशिनं कवयो हरयन्ते।[5]

प्रवन्धकाव्यों में रसाभिनिवेश करने वाले कवि होते हैं। जिनका एक-एक मुक्तक प्रवन्धों की स्पर्धा में खड़ा हो सकता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में—'यदि प्रबन्धकाव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसी से यह सभा-समाजों के लिए उपयुक्त होता है। उसमें

---

१. शब्दकल्पद्रुम।
२. अग्निपुराण।
३. साहित्यदर्पण छन्द ३०१।
४. ध्वन्यालोक टीका।
५. ध्वन्यालोक।

उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संघटित पूर्ण जीवन या उसके किसी एक पूर्ण अंग का प्रदर्शन नहीं होता है, बल्कि कोई एक रमणीय खण्ड दृश्य इस प्रकार सहसा सामने ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ क्षणों के लिए मन्त्रमुग्ध-सा हो जाता है। इनके लिए कवि को मनोरम वस्तुओं और व्यापारों का एक छोटा सा स्तबक कल्पित करके उसे अत्यन्त संक्षिप्त और सशक्त भाषा में प्रदर्शित करना पड़ता है। अतः जिस कवि में कल्पना की समाहार शक्ति जितनी ही अधिक होगी उतना ही वह मुक्तक की रचना में सफल होगा।"[1]

इस प्रकार एक सफल मुक्तक के लिए पूर्वापरनिरपेक्षता, मार्मिकता, रसात्मकता, चमत्कारक्षमता, अर्थगौरव और सालंकारिकता से युक्त होना आवश्यक है।

मुक्तक सद्यःफलदायी होते हैं। गोष्ठियों में, राज-दरबारों में इनका अपना महत्व होता है। इनकी लोकप्रियता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इनकी एक लम्बी परम्परा भारतीय साहित्य में प्राचीनकाल से सतत चली आ रही है।

यद्यपि मुक्तकों का आपस में पूर्वापर सम्बन्ध नहीं होता है, तथापि एक विषय को लेकर दो-चार मुक्तक लड़ियों को एक सूत्र में पिरोने की प्रथा रही है। इस कारण मुक्तकों के छोटे-मोटे संग्रह अस्तित्व में आये हैं। साहित्यदर्पणकार ने ऐसे संग्रहों को 'कोष' की संज्ञा से अभिहित किया है—

कोष श्लोकसमूहस्तु स्यादन्योन्यानपेक्षकः।
व्रज्याक्रमेण रचितः स एवाति मनोरमः॥
द्वाभ्यां तु युग्मकं सन्दानितकं त्रिभिरिष्यते।
कलापकं चतुर्भिश्च पञ्चभिः कुलकं मतम्॥[2]

दो मुक्तक एक साथ हों तो युग्मक, तीन हों तो सन्दानितक, चार हों तो कलापक और पाँच हों तो कुलक कहे जाते हैं। इस तरह संख्या पर आधृत मुक्तकों के अनेक संग्रह सामने आते हैं। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश से होती हुई यह परम्परा हिन्दी में सम्पूर्ण रूप से विकसित हुई है। सात मुक्तकों के संग्रह को सप्तक, आठ के संग्रह को अष्टक और सोलह के संग्रह को 'षोडशी' कहा गया है। इसी प्रकार बीसा, चौबीसा, पच्चीसा, चालीसा, पचासा, बावनी, शतक, सतसई और हजारा नाम से अनेक मुक्तक संग्रह हिन्दी में मिलते हैं। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य का रीतिकाल बड़ा ही समृद्ध युग रहा है। उस समय सतसई के अतिरिक्त मुबारक के 'तिलशतक और अलक शतक', मण्डन कवि का 'नैन पचासा' और 'अलक बत्तीसी', गोविन्द गिलाभाई की 'लोचन

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास सं० २०२५ पृ० १७१।
२. साहित्यदर्पण : विश्वनाथ ६। ३०८, ३०९।

पच्चीसी', पयोधर पच्चीसी और 'राधामुख षोडशी', रसनिधि और हफीजुल्लाखाँ के 'हजारे' आदि मुक्तक-कोषों का अद्भुत संकलन हुआ है।

मुक्तक-कोष काव्यों में सर्वाधिक महत्त्व 'सतसई' को प्राप्त हुआ है। इसकी लोकप्रियता इतनी बढ़ी कि प्रबन्ध कवियों ने भी इसे आदर से साथ अपनाया है। इसमें सन्देह नहीं है कि मुक्तक कवियों की प्रतिष्ठा का सर्वोत्तम शिखर 'सतसई' ही रहा है, जैसे महाकाव्य प्रबन्ध कवियों का कीर्तिकलश रहा है। वास्तव में प्रबन्ध रचना में जो स्थान महाकाव्य का है, मुक्तक में वही स्थान सतसई का है।

सतसई परम्परा

सतसई परम्परा का आरम्भ प्राकृत-भाषा में रचित हाल (सातवाहन) की गाहा सतसई से माना जाता है। गाहा सतसई का रचनाकाल ई० सन् २०० से ई० ४०० के बीच नियत किया जाता है।[1] इस सतसई में जन-जीवन तथा व्यावहारिक वस्तुस्थितियों के साथ सामीप्य की एक ऐसी भावना चित्रित की गई है जो संस्कृत कविता में कठिनाई से पाई जाती हैं। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का इस युग की रचनाओं के प्रति यह कथन कि 'सन् ईसवी के बाद एक तीसरी वस्तु का अचानक आविर्भाव होता है। यह अध्यात्मवादी या मोक्षकामी रचनाएँ भी नहीं हैं और कर्मकांडवादी या स्वर्गकामी भी नहीं हैं। इसमें ऐहिकता-मूलक सरस कवित्व है। ये उस जाति की रचनाएँ हैं जिसे अंग्रेजी में 'सेक्युलर कविता' कहते हैं।'[2] वास्तव में हाल की इस सतसई में सेक्युलर कविता के घरेलू चित्र हैं।

गाहा सतसई में हाल ने अनेक गाथाओं में से ७०० गाथाएँ चुनकर एकत्र की हैं।[3] गाथाओं के रचयिता भिन्न-भिन्न हैं। हाल की अपनी स्वनिर्मित गाथाएँ भी हैं। अतः यह प्रथम सतसई किसी एक व्यक्ति की रचना न होकर एक व्यक्ति के द्वारा किया गया अनेक व्यक्तियों की गाथाओं का स्वरुचि-अनुकूल संकलन है। इसमें १००-१०० गाथाओं के सात शतक हैं। प्रत्येक के अन्त में उपसंहार स्वरूप एक-एक गाथा है। इस तरह कुल गाथासंख्या ७०७ है। गाथा प्राकृत भाषा का एक छन्द है जिसमें प्रथम और तीसरे चरण में १२-१२ मात्राएँ और द्वितीय-चतुर्थ चरण में क्रमशः १५-१८ मात्राएँ होती हैं।

गाथा सप्तशती का वर्ण्य-विषय मुख्यतः श्रृंगार है। जन-जीवन के सीधे-

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास लेखक-ए० बी० कीथ पृ० २७८।
(हिन्दी अनुवाद)

२. हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ० ६१।

३. सत सताइं कइवच्छलेणं कोडीअ मज्झआरम्भि।
हालेण विरइआइं सालंकाराणं गाहाणं॥

सादे दृश्यों के बीच प्रेम और शृंगार के मोहक चित्र भी इसमें उपलब्ध होते हैं। युवती चन्द्रमा से प्रार्थना करती है कि वह उसे अपनी उन किरणों से छूने की कृपा करे जिन किरणों से उसने उसके प्रियतम का स्पर्श किया है। इतना ही नहीं रात्रि से भी वह निरन्तर बने रहने की याचना करती है क्योंकि सुबह होगी तो उसके प्रियतम को चले जाना होगा—

> अमअम गअणसेहर रअणीमुइतिलअ चन्द दे छिवसु।
> छित्तो जेहिं पिअअमो ममं पि तेहिं विअ करेहिं॥[1]
> कल्लं किर खरहिअओ पवसि इहि पिओत्ति सुण्णइजणाम्मि।
> तह वड्ढ भअवइणिसे! जह से कल्लं विअण होइ॥[2]

शृंगार के अतिरिक्त अन्य विषयों का भी इसमें समावेश किया गया है। प्रकृति का अत्यन्त उदात्त चित्रण हुआ है। सुन्दर, सरस सूक्तियों के द्वारा अभिव्यक्ति को मार्मिक और प्रभावशाली बनाया गया है। विषय और शैली की दृष्टि से इस सतसई ने सतसई परम्परा के लिए एक मानदण्ड प्रस्थापित किया है। संस्कृत और हिन्दी की सतसइयों ने इसका खुलकर अनुसरण किया है।

प्राकृत में ही हाल की परम्परा में दूसरी सतसई वज्जालग्गं है। श्री जयवल्लभ सूरि ने हाल के अनुकरण पर विविध कवियों द्वारा विरचित श्रेष्ठ गाथाएँ चुन कर वज्जालग्गं की रचना की है। इसमें कुल ७९४ गाथाएँ हैं। गाथाओं को अलग-अलग विषयों के अन्तर्गत संग्रहीत किया गया है। इन विषयों को 'वज्जा' कहा गया है। इसलिए ये गाथाएँ 'वज्जा' क्रम से होने के कारण पुस्तक का नाम 'वज्जालग्गं' [व्रज्यालग्नम्] रखा गया है। कुछ वज्जा शीर्षक इस प्रकार हैं—सज्जन, दुर्जन, मित्र, नीति, धैर्य, साहस इत्यादि। शृंगार इसका भी मुख्य विषय है। नखशिख-वर्णन, प्रेमवर्णन, नायक-नायिका वर्णन के साथ भाव-अनुभावों और संचारियों की भी सुन्दर अभिव्यंजना हुई है।

रूप-विधान की दृष्टि से 'वज्जालग्गं' में एक व्यवस्था दिखाई देती है। यहाँ गाथा की संख्या क्रमशः चलती है और उनका शीर्षक देकर विषय-विभाजन किया गया है। शैली इसकी चमत्कारपूर्ण है—दारिद्रय तुझे नमस्कार है, तुम्हारे प्रसाद से मैं सिद्ध हुआ हूँ क्योंकि मैं दुनिया को देखता हूँ, दुनिया मुझे नहीं देखती है—

---

१. अमृतमय, गगनशेखर रजनीमुखतिलक चाँद! छू दे।
छुआ है जिनसे प्रियतम को, मुझे भी उन्हीं किरणों से॥

२. प्रातः निश्चित चला जायेगा निष्ठुर प्रियतम, यह सुनकर।
(बोली) इस प्रकार बढ़ो भगवति रात्रि जिससे कि प्रातः होने न पाये।

दारिद्रयं तुज्झ णमो, जस्स पसाएण एरिसी रिद्धि।
पेच्छामि सयललोए, ते मह लोया न पेच्छन्ति ।।[1]
सद्दपलोहँ दोसेहि वज्जियं, सुललियं फुटं महुरं।
पुणेहि कहवि पावइ छन्दे कव्वं कलत्तं च।।[2]

प्राकृत की इन दो सतसइयों का प्रभाव इतना गहरा रहा कि संस्कृत की आभिजात्य कविता भी इस ओर संचरण करने के लिए लालायित हुई। ७०० छन्द संख्या वाले अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना संस्कृत में हुई। दुर्गा सप्तशती और श्रीमद्भगवतगीता में ७०० श्लोक होने के कारण इन्हें भी सतसई-परम्परा में समाविष्ट किया जा सकता है।[3] परन्तु ये दोनों पुराणों के अंग हैं और सतसई की जो सेक्युलर परम्परा है उससे ये अलग पड़ते हैं। संस्कृत में गाथा सप्तशती के गोत्र की रचना है गोवर्द्धनाचार्य की आर्या सप्तशती।

संस्कृत की प्रथम सतसई आर्या-सप्तशती है। इसका रचनाकाल १२वीं शताब्दी में पड़ता है। छन्द के नाम पर इसका भी नामकरण हुआ है। अकारादि क्रम से ७५६ आर्याएँ रखी गई हैं। आरम्भ में देवी-देवताओं तथा पूर्ववर्ती कवियों की स्तुति-प्रशंसा की गई है। अन्त में लेखक ने अपनी रचना के विषय में अपना मन्तव्य भी प्रकट किया है।

आर्या शप्तशती में विषयों की विविधता है, परन्तु शृंगार का विलास प्रमुख है। उसके सभी पक्ष इसमें उभरे हैं। गाहा सतसई का इस पर गम्भीर प्रभाव परिलक्षित होता है, कहीं-कहीं पर तो गाथाओं का अनुवाद ही हुआ है। तो भी गोवर्द्धनाचार्य ने पर्याप्त मौलिकता दिखाई है। उन्होंने अपनी सतसई को न शतकों में विभाजित किया, न विषयात्मक शीर्षकों में। अकारादि क्रम से संकलन किया है। ग्रन्थारम्भ और ग्रन्थ समाप्ति की विधिवत् आयोजना कर सतसई-परम्परा को एक ठोस काव्य रूप देने का प्रयत्न किया है।

गोवर्द्धनाचार्य की सप्तशती से प्रभावित होकर ई० सन् १५६६ में विश्वेश्वर पंडित ने अपनी आर्या सप्तशती का निर्माण किया है। पंडितजी ने ग्रंथ संघटना में गोवर्द्धनाचार्य का पूर्ण अनुकरण किया है। मंगलाचरण-ग्रन्थारम्भ-वर्ण्य विषय-ग्रन्थ समाप्ति के साथ श्लोकों का अकारादिक्रम भी रखा है। साथ ही साथ स्वयं इसकी संस्कृत टीका भी प्रस्तुत की है।

---

१. वज्जालग्गम् गाथा १३६।

२. शब्द प्रपुष्ट, दोषरहित, सुललित, स्फुट, और मधुर।
पुण्य से ही कवि पाते हैं कविता और कामिनी को ।। गाथा २४

३. देखिए—रीतिकालीन श्रृंगारिक सतसइयों का तुलनात्मक अध्ययन डॉ० पुष्पलता।

इसमें भी मुख्यतया श्रृंगार ही प्रमुख रहा है। श्रृंगार के ही अंतर्गत आलिंगन, चुम्बन, सुरत, मान और प्रवास आदि उसके विभिन्न अंगों का वर्णन हुआ है। विषय परम्पराभुक्त होते हुए भी कवि की मौलिकता उसकी मनोमुग्धकारी अभिव्यक्ति में दिखाई देती है—

रमणीनां कुचमुकलोपरि निदधाने करं दयिते।
मुकुली भवति नयने अपि तत्स्पर्शस्पृहावशेनेव ॥[1]

—मुकलित कुचों पर प्रिय के हाथ का स्पर्श होते ही नायिका आनन्दातिरेक में नयन मूंद लेती है। कवि उत्प्रेक्षा करता है कि नेत्र तो स्वयं इसलिए मुकलित हो गए ताकि प्रिय के हाथों का स्पर्श उन्हें भी प्राप्त हो क्योंकि प्रिय का स्पर्श प्रथम मुकलितों को ही प्राप्त होता है। इस कथन भंगिमा ने कवि-उक्ति को रसवती बनाया है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्राकृत-संस्कृत में सतसई की एक ठोस परम्परा धीरे-धीरे एक निश्चित आकार ले चुकी थी। प्राकृत सतसइयाँ भिन्न-भिन्न कवियों के मुक्तकों के एक कविकृत संकलन के रूप में सामने आती हैं। संस्कृत में उनका रचयिता एक था और मंगलाचरण और ग्रन्थ समाप्ति की प्रथा का अनुसरण कर उन्हें शास्त्रीय आधार प्रदान करने का प्रयत्न भी किया गया था। ग्राम्य-जीवन के स्वाभाविक चित्रों के साथ नागर-जीवन के ललित-कलित चित्रों को भी वर्ण्य विषय में सम्मिलित किया गया था। छन्दों की संख्या ७०० से अधिक और आठ सौ के भीतर मर्यादित रखी गई थी।

हिन्दी का सतसई साहित्य प्राकृत और संस्कृत की परम्परा का उत्तराधिकारी बना और १७वीं शती से लेकर २०वीं शताब्दी तक 'सतसई' की एक अविच्छिन्न परम्परा हिन्दी साहित्य में चलती आई है। हिन्दी की निम्नलिखित सतसइयाँ मुख्य रूप से प्रकाश में आई हैं—

१—तुलसी सतसई	वि० सं० १६४२	ज्ञान-उपदेश
२—रसनिधि सतसई	वि० सं० १६६०-७०	श्रृंगार-भक्ति
३—बिहारी सतसई	वि० सं० १६६२	श्रृंगार-नीति-भक्ति
४—रहीम सतसई	वि० सं० १७२०	ज्ञान-उपदेश-नीति
५—मतिराम सतसई	वि० सं० १७३८	श्रृंगार-भक्ति-नीति
६—वृन्द सतसई	वि० सं० १७६१	ज्ञान-उपदेश-नीति
७—यमक सतसई	वि० सं० १७६१	नीति
८—विक्रम सतसई	वि० सं० १८५५-६०	श्रृंगार-भक्ति-नीति
९—राम सतसई	वि० सं० १७६०-८०	श्रृंगार-भक्ति-नीति

१. आर्य्यासप्तशती [गोवर्द्धनाचार्य] ६८९ छन्द।

१०—दयाराम सतसई	वि०सं० १८७२	भक्ति-शृङ्गार-नीति
११—ब्रजविलास सतसई	,, १८८६	शृङ्गार-भक्ति-नीति
१२—आनन्दप्रकाश सतसई	,, १८६०	शृङ्गार-भक्ति-नीति
१३—सतसैया रामायण	,, १६१०	रामकथा
१४—वीर सतसई	,, १६१४	वीररस
१५—वसन्त सतसई	,, १६३१	अन्योक्तिपरक
१६—वीर सतसई	× सन् १६२७ ई०	वीररस-देशप्रेम आदि
१७—ब्रज सतसई	× सन् १६३७ ई०	शृङ्गार-नीति-भक्ति
१८—हरिऔध सतसई	× सन् १६४७ ई०	देशप्रेम-ईश्वर गुणगान
१६—किसान सतसई	× सन् १६४८ ई०	किसान-महत्व
२०—ज्ञान सतसई	× सन्	ज्ञान-वैराग्य[1]

इन सतसइयों के अतिरिक्त नाथूराम की वीर सतसई, अमृतलाल की अमृत सतसई, मोहनसिंह की मोहन सतसई, बुधजन की बुधजन सतसई और दीनदयाल की बुधजन सतसैया का भी उल्लेख मिलता है।[2]

हिन्दी साहित्य में सतसई परम्परा को दृष्टि में रखकर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दी-सतसई परम्परा वैविध्यपूर्ण रही है। प्राकृत और संस्कृत में जहाँ शृङ्गार को मुख्यतः सतसई का प्रतिपाद्य माना गया है वहाँ हिन्दी में वर्ण्य विषय का विस्तार अपने ढंग से स्वतन्त्र रूप में हुआ है। इस दृष्टि से हिन्दी सतसइयों का विभाजन दो भागों में किया जा सकता है— १. शृङ्गार-प्रधान-सतसइयाँ और २. शृंगारेतर सतसइयाँ।

१. शृंगार प्रधान सतसइयों में बिहारी-सतसई को इस परम्परा में शिखर-सम्मान प्राप्त है। इसमें मुख्यतः शृंगार के ही आकर्षक चित्र निखरे हैं। भक्ति और नीति का निरूपण गौण रूप से हुआ है। शृङ्गार-प्रधान सतसइयों में मतिराम सतसई, रसनिधि-सतसई, विक्रम सतसई, राम सतसई, ब्रजविलास सतसई और आनन्दप्रकाश सतसई का भी समावेश होता है। इस परम्परा की ब्रजसतसई और दयाराम सतसई में शृङ्गार का रूप मर्यादित और संयत है। इनमें भक्ति और नीति को भी समान महत्व मिला है।

२. शृङ्गारेतर सतसइयों में विषयों का वैविध्य रहा है। तुलसी सतसई में भक्ति-ज्ञान और कर्म के निरूपण के साथ उपदेश-प्रधान प्रवृत्ति के भी दर्शन होते

× प्रकाशन वर्ष हैं।

१. रीतिकालीन शृङ्गार सतसइयों का तुलनात्मक अध्ययन : डॉ० पुष्पलता के आधार पर।

२. देखिये 'राजस्थान पिंगल साहित्य' : डॉ० मो० मेनारिया, पृ० १६३।

हैं। राजेन्द्र शर्मा रचित 'ज्ञान सतसई' में आत्मा, ब्रह्म, व्यष्टि, समष्टि को लेकर विचार किया गया है। ये चिन्तनात्मक स्तर की सतसइयाँ हैं।

इस कोटि में दूसरे स्तर पर श्री जगतसिंह सेंगर की 'किसान सतसई' सूर्यमल्ल मिश्रण की 'वीर सतसई', वियोगी हरि की 'वीर सतसई' और अयोध्यासिंह 'हरिऔध' की 'हरिऔध सतसई' आती हैं। इनमें वर्ण्य-विषय एकदम बदला है। सूर्यमल्ल मिश्रण की सतसई वीररस की रचना है। इसमें युद्ध और योद्धाओं का ओजपूर्ण वर्णन हुआ है। इसकी भाषा राजस्थानी है। शेष तीन सतसइयों में विषय वस्तु आधुनिक है। 'किसान सतसई' में भारत के कृषकवर्ग की महत्ता और उनकी वर्तमान अवस्था का करुण चित्रण है। वियोगी हरि की 'वीर सतसई' में ईश्वर गुणगान, देशप्रेम आदि का निरूपण किया गया है।

तीसरे स्तर पर वे रचनाएँ आती हैं जिनमें नीति और सूक्तियों की प्रधानता है। संसार के आचार-विचार और कार्य-कलापों के निरीक्षण के अपने अनुभवों की रचयिताओं ने मार्मिक अभिव्यक्ति की है। 'रहीम सतसई' 'वृन्द सतसई' तथा 'यमक सतसई' इस स्तर की मुख्य रचनाएँ हैं।

चौथे स्तर पर 'सतसैया रामायण' को रखा जा सकता है। इसमें रामकथा को सतसई-परम्परा में ढालने का यत्न किया गया है। इसके रचयिता कीरतसिंह हैं।

वर्ण्य विषय की उक्त विविधता के अतिरिक्त हिन्दी सतसइयों की सामान्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) हिन्दी सतसइयों का नामकरण कर्ता अथवा विषय-वस्तु के आधार पर हुआ है—यथा रहीम सतसई, ज्ञान सतसई, सतसैया रामायण। [प्राकृत और संस्कृत परम्परा छन्द और व्रज्या के आधार पर नामकरण करती है]

(२) हिन्दी सतसई एक ही कवि की रचना है। [प्राकृत में अनेक कवियों के छन्द संगृहीत रहते हैं]

(३) हिन्दी सतसई का मुख्य छन्द दोहा रहा है। सोरठा और अन्य छन्दों का प्रयोग यदा कदा ही हुआ है।

(४) ग्रन्थारम्भ और ग्रन्थ समाप्ति की व्यवस्थित परम्परा हिन्दी सतसइयों में विकसित हुई है।

(५) हिन्दी सतसइयों में ७०० छन्दों की परम्परा का पालन हुआ है। परन्तु मंगलाचरण और ग्रन्थ समाप्ति विषयक दोहों के कारण सतसइयों की छन्द

संख्या ७०० से ७५० तक सीमित रही है। संख्या का विभाजन शतकों में नहीं हुआ है।

(६) हिन्दी की सतसइयाँ व्रजी, राजस्थानी और खड़ी बोली तीनों में लिखी गई हैं।

(७) हिन्दी की सतसइयों में काव्य-शिल्प की विशेष समृद्धि मिलती है।

(८) शृङ्गार-चित्रण में प्रायः राधा और कृष्ण को नायिका और नायक के रूप में लिया गया है।

दयाराम सतसई-परम्परा में

दयाराम सतसई को हिन्दी-जगत् के सामने लाने का श्रेय डॉ० अम्बाशंकर नागरजी को है। इससे प्रथम इसका कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता है। केवल उदयपुर के राजदरबार में बिहारी सतसई के साथ इसकी तुलना की गई है। सम्भवतः अहिन्दीभाषी क्षेत्र की रचना होने के कारण हिन्दीभाषी क्षेत्रों में इसका जितना प्रचार होना चाहिए था उतना न हो सका। फलतः हिन्दी साहित्य में यह सतसई उपेक्षित-सी रह गई है।

हिन्दी सतसई परम्परा में दयाराम सतसई का मूल्यांकन करने के लिए यह देखना आवश्यक है कि इस परम्परा की विशेषताओं का प्रस्तुत सतसई में कितना विनियोग हुआ है।

रूप विधान की दृष्टि से देखें तो दयाराम सतसई में ७३१ छन्द हैं। कृति का नामकरण कर्त्ता के नाम पर हुआ है। आरम्भ में मंगलाचरण है, अन्त में ग्रन्थ-समाप्ति सूचक छन्द हैं। सभी छन्द के कवि स्वयं हैं। सतसई व्रज्या क्रमेण अठारह प्रकरणों में विभक्त है। लेकिन छन्द-संख्या अखण्ड है। वर्ण्य विषयों में भक्ति, शृंगार और नीति के अतिरिक्त कठिनार्थ प्रकरण में शब्द-क्रीड़ा, काव्यचातुर्य प्रकरण प्रहेलिका, अन्तर्लापिका बाह्यलापिका और चित्रकाव्य के नमूने दिए गए हैं। इस तरह वर्ण्य विषय का प्रस्तुत सतसई में विस्तार हुआ है और सतसई को पांडित्यपूर्ण एवं चमत्कार-सम्पन्न बनाने का सफल प्रयत्न किया गया है। अन्य सतसइयों के मुकाबले दयाराम-सतसई की यह अपनी मौलिक विशेषता है।

रूप-विधान की तरह दयाराम सतसई में भाव-विधान भी उत्कृष्ट है। इसमें कवि के प्रतिपाद्य भक्ति और शृङ्गार मुख्य रूप से रहे हैं। दोनों का मूल-भाव या स्थायी भाव रति है। 'रति' के चित्रण में भावों की सुमधुर व्यंजना हुई है। सुबह के समय एक गोपी अपनी गौशाला की सफाई कर रही है, दूर पर कृष्ण खड़े हैं। उसे कृष्ण-स्पर्श की अभिलाषा होती है, देखा इधर-उधर अभी कोई नहीं है। धीरे-धीरे कृष्ण को बुलाती है—

खरक सँवारों कर भरे, गोबर छुट उर छोर।
ऐहें बड़ को बाल तुम, ढ़ांपिय नन्दकिशोर ।।[1]

—मैं गोशाला साफ कर रही हूँ, हाथ गोबर से भरे हैं। उर का आँचल जरा खिसक गया है। कोई बड़ा-बूढ़ा यहाँ से आ निकले तो ? इसलिये नन्द-किशोर ! तुम अभी बालक हो, जरा इसे ठीक तरह से ढक तो देना।

गोपी कृष्ण का स्पर्श चाहती है। परन्तु बुलाए किस बहाने से ? नाजुक बहाना ढूँढ़ लिया, भला इससे कोई मना कर सकता है ? 'ऐहें बड़' में भविष्य-काल की बात से वर्तमान एकान्त की सूचना निहित है। 'ढांपिय' में पूरे आच्छादन की क्रिया का संकेत है। पूरे हाथ का खुले वक्ष पर सम्पूर्ण स्पर्श अभिलाषा में व्यक्त हुआ है।

कहते हैं काव्य वही अच्छा है जो विचारित रमणीय हो। संगीत और साहित्य के बीच यही अन्तर है—एक अविचारित रमणीय है, दूसरा विचारित रमणीय—

साहित्यं संगीतं च सरस्वत्यास्तनद्वयम्।
आयाद्मधुरमेकं च अन्यदालोचनामृतम् ।।

आलोचनामृतं का अर्थ है जो काव्य विचार करने पर रमणीय लगे। काव्य वही है जो एकदम स्फुट न हो, जो एक साथ गूढ़ और अगूढ़ हो। दया-राम के दोहों में यह विचारित रमणीयता सहज रूप में मिलती है—

सब ठां गुनि के अंग तें, पावें सब सम्मान।
अगुनवती उर पें धरी, क्यों न होई अपमान ।।[2]

नायिका इन्तजार कर रही है। नायक आता है। नायिका को लगा कि प्रिय अन्यत्र रति-क्रीड़ा करके आया है। वह रोष से भर जाती है। नायक को अपमान का पात्र समझने लगती है। इस रोष की विचारित रमणीयता इस दोहे में हुई है—गुणी के साथ सब सम्मान पाते हैं और अवगुणी के साथ अपमान होता है। इस सामान्य कथन की तह में पहुँच कर देखें तो अन्या के साथ नायक का गाढ-श्लेष उसके वक्ष पर पड़े हुए बिना सूत्र के हार के उभरे हुए दानों से व्यंजित होता है। 'अगुनवती उर पर धरौ' में माला और अन्या दोनों की विच्छित्ति विधायक व्यंजना हुई है। ऐसे अनेक दोहे सतसई में मिलते हैं—देखिए—

अंचत तन आगार दिस, चित्त रावरी ओर।
ज्यों न सकै छुटि दंड तें, धुजा पवन के जोर ।।[3]

---

१. द० स० दोहा १७१।
२. द० स० दोहा १८१।
३. द० स० दोहा १२२, १२१।

रूप भूप के राज में यह महान् अन्याय।
नाम न लेवें मूढ को, च्यातुर मारे जाय॥

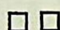
अलंकारों का विशेषतः शब्दालंकारों का बड़ा सार्थक और हृद्य प्रयोग दयाराम ने किया है। अलंकारों का महत्व इसी में है कि वे भाव-व्यंजना में सहायक हों—यथा—

मुकुर मुकर सब वस्तु भई, नयन अयन किय लाल।
द्रग पसारुँ जित जित अली, तित-तित लखूँ गुपाल॥[1]

—प्राणों का प्रिय आँखों में समा जाता है, तब सारा वातावरण तन्मय हो जाता है। पद-पद में संगीत सुनाई देता है। एक आत्मोल्लास सर्वत्र छा जाता है। प्रस्तुत दोहे में उल्लास की इस तस्वीर को अनुप्रास और यमक के द्वारा संगीत उत्पन्न कर आँखों के सामने लाया गया है।

दयाराम में भाव और कला दोनों को निखारने की अद्भुत क्षमता है। ऊपर के उदाहरणों से इसकी एक झलक मिलती है। इस पर अन्यत्र विस्तृत रूप से विचार किया गया है।

दयाराम सतसई हिन्दी सतसई-परम्परा की एक विशिष्ट कृति है जिसमें सतसई-परम्परा की सामान्य विशेषताओं का निर्वाह करते हुए कवि ने अपनी व्यापक मौलिकता का भी परिचय दिया है।



१. द० स० दोहा १००।

५. दयाराम सतसई का विषय विभाजन

दयाराम ने विक्रम संवत् १८७२ के भाद्रपद मास की राधा-अष्टमी के पुण्य-पर्व के दिन चाणोद ग्राम में नर्मदा के पवित्र तट पर अपने जीवन के ३९वें वर्ष में सतसैया की रचना को अन्तिम रूप दिया—

शक अष्टादस दुहुतरा, शुभ्र पक्ष नभ मास।
मिति श्री राधा अष्टमी, बार गुरू शुभ रास॥
ता दिन संपूरन भयो, सतसैया शुभ ग्रंथ॥[1]

कवि को अपनी इस कृति पर बड़ा प्यार है, बहुत गौरव है। उसने इसे ज्ञान, भक्ति, विवेक और रसिकता में पगे प्रेमादिक प्रस्तावों की परम्परा का निर्वाह करते हुए, बड़े मनोयोग से लिखा है। 'पिंगल शास्त्र' के अनुसार छन्द रचना करने का प्रयत्न किया है—

ज्ञान भक्ति सुविवेक युत, प्रेमादिक प्रस्ताव।
पूर्व ग्रंथ सम्मत ललित, नागरता हरि भाव॥
पिंगल पद्धति देखिके, रचना रची अदोष।
तदपि होंय कबु समझियो, हरिगुन जिन धरि दोष॥[2]

सतसैया की रचना कवि ने परोपकार के लिए की है। कवि का विश्वास है कि सतसैया के पाठक को सुमति मिलेगी और कृष्णपद की प्राप्ति भी होगी। कवि का उद्देश्य केवल कृष्ण की प्रीति ही रही है। किसी भूप के कृपा-कटाक्ष की प्राप्ति के लिए सतसैया का निर्माण उसने नहीं किया है—

पुरुषोत्तम गोपीश श्री, कृष्ण मनोहर रूप।
तव प्रीत्यर्थ सुग्रंथ यह, नहि रिझयत को भूप॥[3]

कवि ने 'सतसैया' में विषय-विभाजन अपने ढंग ले १५ प्रकरणों से किया है। प्रकरण इस प्रकार हैं—

१. मंगलाचरण
२. भगवत्स्तुति विज्ञप्ति
३. प्रेम वर्णन
४. नायिका वर्णन
५. रूप वर्णन
६. संग वर्णन
७. भक्ति प्रकरण
८. वाद प्रकरण

---

१. सतसई—७२६, ७२७।
२. वही ७२९, ७३०।
३. वही ७२८।

९. नाम माहात्म्य प्रकरण — १०. आश्रय-प्रकरण
११. विवेक प्रकरण — १२. शिक्षा विवेक प्रकरण
१३. प्रस्ताव प्रकरण — १४. कठिनार्थ प्रकरण
१५. काव्य चातुर्य प्रकरण

इन प्रकरणों में पारस्परिक क्रम-योग नहीं है। एक ही विषय को अनेक प्रकरणों में अलग-अलग शीर्षक से रखा गया है। मंगलाचरण के लिए तो प्रकरण बनाया गया है, पर ग्रन्थ समाप्तिमूलक कवि परिचय को प्रकरण के बाहर कर दिया गया है। इसलिए इन सभी प्रकरणों को सुसंगत और क्रमबद्ध करने के लिए समस्त रचना को पाँच विभागों में विभक्त किया जा सकता है—

१. मंगलाचरण	:	प्रकरण-१	५ दोहे
२. भक्ति-काव्य	:	भगवत् स्तुति, भक्ति प्रकरण, वाद प्रकरण नाम माहात्म्य प्रकरण, आश्रय प्रकरण, प्रस्ताव प्रकरण कुल ६ प्रकरण	१६७ दोहे
३. रीति-काव्य	:	प्रेम-वर्णन, नायिका वर्णन, रूप वर्णन कठिनार्थ प्रकरण, काव्य चातुर्य प्रकरण कुल ५ प्रकरण	२७८ दोहे
४. नीति-काव्य	:	विवेक शिक्षा, शिक्षा विवेक, संग वर्णन कुल ३ प्रकरण	२७१ दोहे
५. ग्रन्थ समाप्ति कवि परिचय	:		१० दोहे
			७३१

इस प्रकार कुल ७३१ दोहों में ग्रन्थ की रचना हुई है। इस ग्रन्थ को गुजरातीभाषी जनता को समझाने के लिए कवि ने स्वयं गद्य में इसकी टीका भी प्रस्तुत की है।

यह ग्रन्थ लोकप्रिय रहा होगा, राज-दरबारों में भी इसे सम्मान मिला होगा। गुजराती के एक साहित्यकार श्री आर० सी० मोदी ने अपने ग्रन्थ 'दयाराम' में एक प्रसंग का वर्णन करते हुए लिखा है—'एक बार उदयपुर के दरबार में एक चारण ने एक दोहा 'दयाराम-सतसैया' से और एक दोहा बिहारी सतसई से गाकर सुनाया' उदयपुर नरेश ने चारण से पूछा—'इन दोनों में से कौन-सा अच्छा है ?' चारण ने कहा—'दोनों अच्छे हैं।' महाराज प्रसन्न हुए और कहा—'तुम्हारा कहना ठीक है, परन्तु दयाराम की सतसैया बिहारी की सतसई

से श्रेष्ठ है क्योंकि विहारी ने लौकिक शृंगार की अभिव्यक्ति की है जबकि दयाराम में अलौकिक शृंगार प्रकट हुआ है।"[1]

दयाराम की सतसैया में मंगलाचरण और ग्रन्थ-समाप्ति के दोहे को छोड़ दिया जाय तो सारी सतसई में भक्ति-काव्य, रीति-काव्य और नीति-काव्य के सुन्दर, रुचिर दोहे ही इसकी श्रेष्ठता के समर्थ द्योतक हैं। अब इन तीनों पर संक्षिप्त रूप से विचार किया जाय।

भक्ति-काव्य—जैसा ऊपर बताया जा चुका है कि कुल १६७ दोहों में भक्ति-काव्य का समावेश हुआ है। इनमें भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी प्रिया राधा की स्तुति-प्रार्थना की गई है। शुद्धाद्वैत की विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है। पुष्टिमार्ग और शुद्धाद्वैत के आधार पर भक्ति का निरूपण किया गया है। भक्ति में भी प्रेमलक्षणा भक्ति को उत्कृष्ट बताया गया है। ज्ञान से भक्ति को वरीयता प्रदान की गई है। परमात्मा को साकार, सगुण सिद्ध किया गया है। भगवान के नाम की महिमा गायी गई है। भगवान के आश्रय को ही परम आश्रय बताया गया है। भगवान और भक्त के आपसी सम्बन्धों को प्रकट किया गया है। भगवान् पर ही सारी चिन्ताएँ को टिकाकर भक्त को सांसारिक बन्धनों से मुक्त रहने की सलाह दी गई है। देखिए—

निराकार सबकों कहें, ये प्रभु हैं साकार।
जो अवयव नहिं ईस, लह्यो कहाँ संसार॥
टरै न श्री हरि नांउसों, ऐसो अघ नहिं कोय।
ऐसी वस्तु न होय जो, नभ निमग्न नहिं होय।
चिंता तूं चित क्यों करें, विश्वंभर व्रजपाल।
सक्कर सक्करखोर को, दधि मधि देत दयाल॥

रीति-काव्य—इसके अन्तर्गत प्रेम वर्णन, नायिका भेद, रूप वर्णन, विरह वर्णन, मान वर्णन, दूति वर्णन, काव्य परिभाषा और काव्य भाषा विषयक विधान, चोर कवि, शब्द क्रीड़ा एवं चित्र काव्य का समावेश होता है। वास्तव में यहाँ दयाराम के पांडित्य, काव्यशास्त्र और विविध विषयों के ज्ञान का चमत्कार दिखाई देता है। उनकी काव्यकला का चरम विकास भी यहीं दृष्टि-गोचर होता है। सतसई के सर्वाधिक दोहे अर्थात् २७८ दोहे रीतिकाव्य विषयक हैं। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

पनघट पनघट जाय पन, घट पनघट कों ध्यान।
पनघट लाल चढाय दें, अलि पनघट सुखखान॥
मुकर मुकर सब वस्तु भई, नयन अयन किय लाल।
द्रग पसारुं जित-जित अली, तित-तित लखूं गुपाल॥

---

१. दयाराम सतसई; सं० डॉ० अ० शं० नागर से उद्धृत पृ० १६।

कं कं कं कं कंक कि, खं खं खं खं खाल ।
गो गो गा गे गाग गो, लली लाल लें लाल ॥

नीति-काव्य—सतसई में २७१ दोहे नीति-विषयक हैं। इसमें जगत् की रीति-नीतियों को कवि ने अपने अनुभवों की आँच पर तपाकर जाँचा है। संगति, सन्त, गुरु, सज्जन-दुर्जन, प्रशंसक-निन्दक, पाप-पुण्य, छोटा-बड़ा, मन और मनोवृत्तियाँ, त्याज्य और ग्राह्य आदि अनेक विषयों की व्याख्याएँ, परिभाषाएँ और स्पष्टताएँ प्रस्तुत की गई हैं। इनमें दयाराम के विशाल अनुभव-पटल का परिचय मिलता है। मानव-जीवन का ऐसा कोई क्षेत्र शेष नहीं रहा है जिस पर दयाराम ने प्रकाश नहीं डाला हो। संस्कृत में भर्तृहरि, हिन्दी में तुलसी, रहीम, बिहारी, वृन्द ने अपनी-अपनी सूक्तियों में जीवन के अनुभवों की सटीक अभिव्यक्तियाँ की हैं। आज भी ये सूक्तियाँ लोगों के मुँह पर एकाएक आ जाती हैं। दयाराम की ये सूक्तियाँ भी इसी कोटि की हैं।

सार-असार न समुझ जिहिं, गुड रु खोल इकतोल ।
व्हाँ सबको सुनिबों गुनि, उचित न बदिवों बोल ॥
बड़े नाम तें का भयो काज बड़ो नहिं होत ।
कहें अरक सब आक कूं पें नहि होत उदोत ।
प्रीती ह्वां नीती नहीं, नीती ह्वां नहि प्रीत ।
स्यानप अरु मद छाक जिमि, नहिं इकत्र कहुँ रीत ।

इस प्रकार दयाराम सतसई में भक्ति, रीति और नीति काव्य का बड़ा सुभग समन्वय हुआ है।



६. भक्ति भावना

मध्ययुग का भक्ति-आन्दोलन १८वीं शती के अन्त तक विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों में बँट चुका था। गुजरात में स्वयं वल्लभाचार्य एवं उनके सुपुत्र सम्प्रदाय प्रचार के लिए यात्राएँ कर चुके थे। गुजरात से अनेक वैष्णव भक्त मण्डलियाँ व्रजमण्डल और श्रीनाथजी की यात्राएँ नियमित रूप से करती थीं। डाकोर वैष्णवों का मुख्य केन्द्र बन गया था। 'व्रजराज' और व्रजभाषा के प्रति अनन्य प्रेम गुजरात में विशेषतया प्रकट हुआ और गुजराती के सभी कवियों ने न्यूनाधिक रूप में व्रजभाषा में अपने भावों को व्यक्त करने का प्रयास किया है।

दयाराम में भक्ति और भाषा का यह प्रेम सर्वोत्कृष्ट रूप में प्रकट हुआ है। दयाराम यों बचपन से ही धार्मिक वातावरण में पले थे। श्री इच्छाराम भट्ट जी की प्रेरणा से उन्होंने कृष्ण-धामों की यात्राएँ सम्पन्न कीं। श्रीनाथद्वारा में २५-२७ वर्ष की उम्र में उन्होंने गोस्वामी श्रीवल्लभ जी महाराज से 'ब्रह्म-सम्बन्ध' दीक्षा ग्रहण की।[1] इस दीक्षा में दीक्षित व्यक्ति अपना सब कुछ समर्पित कर भगवान की सेवा में लीन हो जाता है। 'ब्रह्म सम्बन्ध' दीक्षा के दो वर्ष बाद दयाराम ने 'पाकी मरजाद' भी ग्रहण की। इसमें भक्त स्वयं भोजनादि तैयार कर ठाकुर जी को भोग लगाने के पश्चात् ही उसे प्रसाद के रूप में लेता है। दयाराम ने इसका अन्त तक पालन किया।

दयाराम की भक्ति पर दृढ़ आस्था थी और शंकराचार्य के अद्वैत के स्थान पर वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत के प्रबल समर्थक थे। दयाराम ने अपनी गुजराती और हिन्दी कृतियों में शुद्धाद्वैत और पुष्टिमार्ग का जोरदार समर्थन किया है और साथ ही साथ अन्य दार्शनिक मतों का खण्डन भी किया है। इसीलिए जहाँ सूरदास को 'पुष्टिपोत' कहा गया है वहाँ दयाराम को 'पुष्टि-पयोधि' माना गया है। 'सतसई' में व्यक्त उनके दार्शनिक और भक्ति-विषयक विचारों पर अब दृष्टिपात करें।

१. सैद्धान्तिक मत—

भगवत्प्राप्ति के अनेक मार्ग हैं। ज्ञान, भक्ति, कर्म और योग के द्वारा मनुष्य अपना पारमार्थिक कल्याण प्राप्त कर सकता है। शंकराचार्य ने ज्ञान-

---

१. श्री वल्लभ जी करुनाबल, ग्रन्थ सम्प्रदायसार।
सेव्य भी मदनमोहन हैं, दयाराम उरहार॥

—सं० काव्यमाला १

मार्ग पर जोर दिया। ज्ञान से ही मुक्ति लभ्य है। परवर्ती वैष्णव आचार्यों ने ज्ञान के स्थान पर भक्ति की पुनः प्रतिष्ठा की। ईश्वर में सम्पूर्ण रूप में अनुरक्ति ही भक्ति है। पूर्ण पुरुषोत्तम के प्रति सर्वात्मना समर्पित होना ही जीव का धर्म है, उसकी आनन्द-साधना है। इसलिए भक्तिमार्ग के प्रस्तोता आचार्यों ने शंकर के अद्वैत का खण्डन किया और उनके मायावाद को स्वीकार्य नहीं माना। शंकर ने पारमार्थिक सत्ता के रूप में निर्गुण ब्रह्म को माना है। जीव और ब्रह्म में नितान्त अभिन्नता की पुष्टि की है। इसी कारण इनका मत अद्वैत-वाद के नाम से प्रचलित हुआ है। ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है और जीव ही ब्रह्म है। माया के कारण ही यह सारा प्रपंच है। शुद्धाद्वैतवादियों ने शंकर के केवलाद्वैत की जगह पर शुद्धाद्वैत को प्रतिष्ठा की और ज्ञान की जगह पर भक्ति को श्रेष्ठ घोषित किया।

परब्रह्म—

शंकराचार्य ने इसकी पारमार्थिक सत्ता मानी है। उन्होंने इसे निर्गुण, निराकार बतलाया है। माया से शबलित होने पर इसे 'ईश्वर' भी कहा है। यही इस जगत् का कर्ता-धर्ता है परन्तु निर्गुण ब्रह्म माया के सम्बन्ध से नितान्त शून्य है। वल्लभाचार्य ने इन धारणाओं का खण्डन किया है। उनके मत में ब्रह्म सत्, चित् और आनन्द गुणों से युक्त है। वह व्यापक है। सर्वशक्तिमान् है। सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है। वह सर्वज्ञ है, प्राकृतिक गुणों से रहित है।

सच्चिदानन्दरूपं तु ब्रह्म व्यापकमव्ययम्।
सर्वशक्ति स्वतन्त्रं च सर्वज्ञं गुणवर्जितम्॥[1]

यह ब्रह्म माया से अलिप्त है। इसलिए शुद्ध है। यह अनादि है, अद्वैत है, अखण्ड है। यह आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक रूप से तीन प्रकार का है। आधिदैविक रूप ही परब्रह्म है। यह अपनी आत्ममाया से सदा आवृत रहता है। यह क्षर से अतीत और अक्षर से उत्तम होने के कारण पुरुषोत्तम कहलाता है। गीता में भी इसका समर्थन है—

यस्मात्क्षरमतीतोऽहम्, अक्षरादपिचोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च, प्रथितः पुरुषोत्तमः॥[2]

यह पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण हैं। कृष्ण ही परब्रह्म हैं कृ—सत्ता वाचक शब्द है और ण—आनन्दवाचक अतः जहाँ आनन्द की सत्ता अबाधित रहती हो वह कृष्ण है। कृष्ण सदानन्द हैं। शुद्धाद्वैत में कृष्ण की सर्वोपरि सत्ता है। इससे कम आनन्द वाला स्वरूप अक्षर ब्रह्म है।

---

१. तत्त्वार्थ दीपिका ६५ पृ० २५।
२. गीता १५/१८।

परं ब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानंदकं बृहत् ।
द्विरूपं तद्धि सर्वं स्यादेकं तस्माद्विलक्षणम् ॥[1]

परब्रह्म कृष्ण में सत्, चित् और आनन्द तीनों गुण पूर्णरूप में विद्यमान हैं। इससे न्यून मात्रा में जिसमें है वह अक्षर ब्रह्म है। इसके भी दो स्वरूप हैं—(१) जगत्-ब्रह्म (२) अक्षर ब्रह्म। यह अक्षर ब्रह्म ही परब्रह्म का धाम है। अक्षर ब्रह्म अपने आधिभौतिक रूप में जगत् स्वरूप है, आध्यात्मिक रूप में अक्षर ब्रह्म है। भगवान् को जब रमण करने की इच्छा होती है, तब वे अपने गुणों में से एक या दो का आविर्भाव करके जीव और जड़ की उत्पत्ति करते हैं। शंकर की माया के स्थान पर 'रमणेच्छा' की शर्त द्वारा जड़-चेतन का आविर्भाव और तिरोभाव का सिद्धान्त विलक्षण है।

दयाराम ने भी परब्रह्म को निर्गुण और अक्षरातीत माना है। वह हरि है, ईश्वर है। वह सर्वशक्तिमान है। सर्वत्र व्याप्त है।[2] दयाराम कहते हैं—भगवान सृष्टि का कर्ता भी है, अकर्ता भी है। वह अकल्प्य है, मन और वाणी की पहुँच से परे है। ईश्वर तो सगुण ही है क्योंकि संसार का कर्ता है—

निराकार सबको कहे, ये प्रभु हैं साकार।
जो अवयव नहि ईस, लह्यो कहाँ संसार॥

हरि में सब जक्त है, जग में हरि यों भाँति शुक मांनि।
जलनिधि में सब बीचि ज्यों, बीचि जलनिधि जांनि॥[3]

जीव—

परब्रह्म की जब रमणेच्छा होती है तब वह अपनी शक्ति से आनन्दांश का तिरोधान कर अपने चिदंश से जीव रूप में प्रकट होता है। इस तरह जीव आनन्दांश तिरोहित परब्रह्म है। वह परब्रह्म का एक अंश है। ब्रह्म और जीव में अंशाशीभाव संबंध है। शांकरमत में ब्रह्म और जीव को अभिन्न बताया गया है। शुद्धाद्वैत इसका खण्डन करता है। दयाराम भी कहते हैं—'ब्रह्म से जीव बना है फिर जीव का ब्रह्म हो ही नहीं सकता। दूध से दही बनता है, पर दही से फिर दूध नहीं बन सकता है—

---

१. श्री सिद्धान्त मुक्तावली।

२. श्रुतिनेति मन-गो-अगम, निगुन अक्षरातीत।
सो श्री गोपीनाथ को, अभिवादन अगनीत॥

× × ×

सर्वेश्वर सर्वात्म प्रभु, हरि ईश्वर भगवान॥ द० स० ३, ४

३. दयाराम सतसई दो० ३३०, ६८७।

भयो ब्रह्म ते जीव फिरि, ब्रह्म होय कहि मुग्ध।
ज्यों दधि पयसों होत सो, बहुरि बनें नहिं दुग्ध ।।[1]

जीव अणु है। असंख्य है। नित्य है। सनातन है। शंकर जीवात्मा को ज्ञानस्वरूप मानते हैं। शुद्धाद्वैत में उसे ज्ञाता माना है। जीव अविद्या के संसर्ग से बन्धन में पड़ता है और विद्या और भक्ति के द्वारा अपने खोए हुए गुण को प्राप्त करके पुनः मूल में अवस्थित हो जाता है। इस अवस्था में वह मुक्त कहलाता है।

जीव के तीन प्रकार होते हैं—(१) शुद्ध जीव, (२) मुक्त (३) संसारी। केवल आनन्दांश के तिरोहित हो जाने पर वह शुद्ध रहता है। अविद्या के सम्पर्क से वह संसारी बन जाता है और पुनः आनन्द की प्राप्ति से वह मुक्त कोटि में पहुँच जाता है। संसारी जीव के भी दो स्तर होते हैं—दैवी और आसुरी। दैवी जीव हरिभक्त होते हैं और आसुरी हरिविमुख। दैवी जीव भी दो प्रकार के होते हैं—मर्यादी जीव, पुष्टि जीव।[2] पुष्टि जीव के भी मिश्र पुष्टि और शुद्ध पुष्टि के भेद से दो प्रकार हैं। इनमें 'शुद्धाः प्रेम्णाति दुर्लभाः' ईश्वर प्रेम से सराबोर जीव ही शुद्ध पुष्टि जीव हैं। वह भगवान के प्रेम में ही मग्न रहता है। भगवान् का अनुग्रह भी होता इसी पर है।

दयाराम ने भी जीव को परमात्मा का अंश कहा है और परमात्मा से ही उसकी उत्पत्ति मानी है—

जीव अंश हों आपकों, सीख्यों करन कु फेल।
तात तजोंगे जो नहीं, डारों हठि निज गेल ।।[3]

जगत्—

जगत् ब्रह्म के सदंश का परिणाम है। इसलिए जगत् अनादि और सत्य है। इसका केवल आविर्भाव और तिरोभाव होता है। इस जगत् में ही एक दूसरी सृष्टि है, जिसे संसार कहते हैं। अविद्या से ग्रस्त जीव-सृष्टि ही संसार है। इसलिए यह कल्पित और ममतामयी है। पंचपर्वा अविद्या से निःसृत होने के कारण मिथ्या है विद्या के द्वारा संसार का नाश हो जाता है, उसका अस्तित्व मिट जाता है। संसार नाशवान् है, जगत् अविनाशी। दयाराम ने जगत् को ब्रह्म के सदंश से प्रकट माना है। अद्वैतवाद-प्रतिपादित जगत् के

१. द० स० ३३५।
२. 'तानहं द्विषतो' वाक्यात् भिन्ना जीवाः प्रवाहिणः।
अत एवेतरौ भिन्नो सान्तौ मोक्ष प्रवेशतः ॥
—पुष्टिप्रवाह मर्यादा भेद ११
३. द० स० ६५६।

मिथ्यात्व का उन्होंने खण्डन किया है। दयाराम सतसई में जगत् के विषय में कोई खास सैद्धान्तिक बात नहीं कही गई है। परन्तु उनके अन्य ग्रन्थों में विशेषतया गुजराती में रचित 'रसिकवल्लभ' में शुद्धाद्वैत मत के अनुसार ही जगत् का प्रतिपादन किया है।

माया—

शुद्धाद्वैत के अनुसार माया ब्रह्म की शक्ति है। इसके दो प्रकार हैं—

विद्याविद्ये हरेः शक्ती माययैव विनिर्मिते।
ते जीवस्यैव नान्यस्य दुःखित्व चाप्यनीशता।[1]

माया की दो शक्तियाँ अथवा रूप हैं—(१) विद्या और (२) अविद्या। विद्या शक्ति के द्वारा ब्रह्म सम्पूर्ण जगत् तत्व का निर्माण करता है और अविद्या शक्ति से जीव के संसार का निर्माण होता है। भगवत्-अनुग्रह से अविद्या का नाश होता है।

दयाराम ने सतसई में कहा है— 'ईश्वर ने जीव को भव-जलनिधि में डाल दिया है। माया के पत्थर से उसके पाँव बाँध दिए हैं। नाम रूपी लकड़ी उसके हाथ थमा दी है और तब स्थिति ऐसी हो गई कि जीव से न तो तरा जा रहा है और न ही डूबा जा रहा है।

डार्यो मो भौं जलधि हरि, अजा-उपल बधि पाय।
दारू कर दिय नाउं निज, तर्यो न बूर्यो जाय॥[2]

यह माया बड़ी वलवती है। क्योंकि इसे जानबूझकर ईश्वर ने जीव के मत्थे मढ़ दिया है। जीव का मन उसका दास वन गया है। माया पर जीव का वश नहीं चलता है। माया प्रभु की रचना है। वह दूसरों को फँसाती है ठीक मकड़ी की तरह। मकड़ी जाल वुनती है, उसमें दूसरों को फँसाती है। स्वयं नहीं फँसती है। ईश्वर की कृपा से ही इससे दूर रहा जा सकता है।

२. पुष्टि मार्ग : भक्ति और सेवा—

भगवान् को प्राप्त करने के अनेक मार्ग हैं। अनेक साधन हैं। इन सब साधनों में भक्ति श्रेष्ठ है। प्रभु की कृपा-प्राप्ति का द्वार ही भक्ति है। ईश्वर के प्रति प्रेम रखना ही भक्ति है। सब ईश्वर की प्रजा हैं, उसका सब पर समान प्रेम है। फिर भी अपने चाहने वालों पर, शरण में आने वालों पर, अनन्य निष्ठा रखने वालों पर उसका अधिक प्रेम रहता है। भगवान को चाहना, उस पर विश्वास करना, उसके क्रोध और दया पर समान भाव से श्रद्धा रखना, उसके अतिरिक्त अन्य किसी पर आश्रय न रखना भक्ति के प्रमुख अंग हैं। इनसे भगवत्-प्रेम की वृद्धि होती है। दयाराम ने इसी का प्रतिपादन किया है—

१. तत्वार्थ दीप निबन्ध : शा० पृ० कारिका ३१।
२. द० स० ४३, २८।

सब जग पुरुषोत्तम प्रजा, सब पे प्रेम समान।
अधिकों लगें प्रपन्न पें, कल्पद्रुम ज्यों दान ॥[१]

भक्ति सद्यफला है। उसका प्रभाव अनन्त है। उसके प्रताप से रावण का उद्धार हुआ। क्षत्रियकुमार ध्रुव के चारों ओर ब्राह्मण कुमार परिक्रमा दे रहे हैं—यह भक्ति का ही परिणाम है। शबरी के चरणोदक के लिए ऋषि-मुनि लालायित रहते हैं। दुर्वासा ऋषि को अम्बरीष के सामने मुँह की खानी पड़ी—यह भक्ति का ही फल है। भक्ति का बड़ा प्रताप है, भक्तों के सामने सब नत हैं—

धाता के सुनु सप्त ऋषि, ध्रुव छत्री के बाल।
देवें याहि परिक्रमा, भक्ती बड़ गोपाल ॥[२]

भक्ति ज्ञान से भी बड़ी है। ज्ञान से मुक्ति मिलती है, भक्ति से स्वयं भगवान्। ज्ञान, योग और वैराग्य माया की लपेट में आ जाते हैं। परन्तु भक्ति को वह नहीं फँसा सकती है। वास्तव में दयाराम कहते हैं ज्ञानी तो वह रेफ (्र) है जो अपने वर्ण में लगकर अधोगामी बन जाता है। परन्तु भक्ति वह रेफ है जो अपने वर्ण में मिले बिना ऊर्ध्वगति (र्) प्राप्त कर लेता है।

ग्यानि भक्त सों क्यों लरत, बिना किये अनुमान।
कृष्ण आप फल भक्ति दें, वाहि मुक्ति कों दान ॥[३]

भक्ति कर्म और मुक्ति से भी बड़ी है। कृष्ण के भजन बिना सब कर्म भ्रष्ट हैं, फलहीन हैं। भक्ति की छाया पड़ते ही संसार के जंजाल से मुक्ति मिल जाती है।

हरि भगती ही छाँहि सों, मुकांत मुकति बत पाय।
हरि भगती ही छाँहि सो मुकति मुकति बत पाय।
कृष्ण भजन बिनु कर्म सब, तनक भ्रष्ट फलहीन।
अफल सफल श्रम सुधरता, जस मृदंगि गतमान ॥[४]

प्रेम भक्ति ही सबसे बड़ी भक्ति है। हरि राग द्वारा ही साध्य है। कृष्ण के प्रति जो स्नेह है वही वास्तव में स्नेह है। उसके अभाव में सब व्यर्थ है—

स्नेह स्नेह सों कृष्ण बिनु, गुनी गुनी सम जानि।
हरख हरख सों ही समुझि, शोख शोष परमांनि ॥[५]

---

१. द० स० ५२।
२. द० स० ३०८।
३. द० स० ३११।
४. द० स० ५६४, ३२७।
५. द० स० ६१६।

भगवान् जिसको चाहता है। उसी को वह प्राप्त होता है। भगवान् के द्वारा चाहने का चुनाव ही पुष्टि है। पुष्टि मार्ग का अर्थ है—भगवान् की अनुकम्पा या दया का मार्ग।

भगवान् में परम अनुरक्ति ही भक्ति है। स्वयं महाप्रभु वल्लभाचार्य जी ने कहा है—

महात्म्यं ज्ञानं पूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तः तया मुक्तिर्न चान्यया ॥[1]

श्रीमद्भागवत में पुष्टि को 'श्रीकृष्णानुग्रह रूपा' बताया गया है। यह अनुग्रह पुष्टिमार्ग में नियामक है—'अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामकः—इति स्थितिः। वल्लभाचार्य के मत के प्रसिद्ध व्याख्याता श्री हरिराय जी ने पुष्टि मार्ग का लक्षण देते हुए कहा है—

सर्वसाधन राहित्यं, फलाप्ती यत्र साधनम्।
फलं वा साधनं यत्र, पुष्टि मार्गः स कथ्यते ॥

जिस मार्ग में लौकिक तथा अलौकिक सकाम तथा निष्काम सब साधनों का अभाव ही श्रीकृष्ण की स्वरूप प्राप्ति में साधन-रूप हैं, अथवा जहाँ जो फल है वही साधन है, उसे पुष्टि मार्ग कहते हैं। केवल भगवान् के अनुग्रह से उपलब्ध भक्ति ही पुष्टि भक्ति ठहरती है। साधन रूपा और साध्य रूपा इसके दो भेद हैं। साधन रूपा के अन्तर्गत वैदिक भक्ति अथवा नवधा भक्ति आती है। साध्यरूपा भक्ति ही प्रेम-रूपा, परा भक्ति, माधुर्य भक्ति, प्रेम-लक्षणा भक्ति के नाम से कही जाती है। नारद और शाण्डिल्य सदृश भक्ति पथ के आचार्यों ने इसे प्रधानता दी है। नारद-भक्ति सूत्र में—'सा तु अस्मिन् प्रेमस्वरूपा अमृतस्वरूपा च'—कहा गया है। शाण्डिल्य ने भक्ति को 'सा तु परानुरक्तिः ईश्वरे' कहा है। सर्वात्मना ईश्वर में विश्वास रखकर समर्पण कर देना ही प्रेम-लक्षणा भक्ति का चरम ध्येय है। सब कुछ छोड़कर प्रभु की शरण में नत हो जाना ही साध्य है। गीता में स्वयं श्रीकृष्ण ने कहा है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यः मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥[2]

भगवान् की सेवा करना भक्त का धर्म है। पुष्टिजीवों की सृष्टि भगवत्स्वरूप की सेवा के लिए ही की गई है—

तस्मात् जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्ना एव न संशयः।
भगवद्रूप सेवार्थं तत् सृष्टि नान्यथा भवेत् ॥[3]

---

१. तत्वार्थ दीपिका शा० प्र० कारिका।
२. गीता १८/६६।
३. पुष्टि प्रवाह मर्यादा भेदः १२।

सेवा ही पुष्टिमार्ग में प्रधान है। सेवा तीन प्रकार से की जा सकती है—(१) तनुजा, (२) वित्तजा, (३) मानसी। उपवास, व्रत और तीर्थयात्रा आदि तनुजा में आते हैं। धन के द्वारा मन्दिर तथा मूर्ति का निर्माण कराना वित्तजा के अन्तर्गत आते हैं। मन में श्रीकृष्ण की आराधना करना मानसी सेवा है। इसी से संसार के दुःख से निवृत्ति होती है और ब्रह्म का बोध होता है। सेवा से आत्मसमर्पण, आत्म-निवेदन और विग्रह-पूजा का समावेश हो जाता है। स्मरण, कीर्तन और श्रवण तथा सेवा के द्वारा भगवान् में आसक्ति बढ़ जाती है। इसी को निरोध कहते हैं—प्रपंच विस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिः। निरोध का अर्थ है भगवन्मय स्थिति। दूसरी बातों में जरा भी मन नहीं रखना। केवल प्रभु का ही आठों प्रहर ध्यान रखना निरोध है। इसके भी चार स्तर होते हैं—१. प्रेम २. आसक्ति ३. व्यसन ४. तन्मयता।

दयाराम पुष्टिमार्गी थे। उनकी सतसई में भक्ति-भावना बड़ी निष्ठा से निरूपित हुई है। दयाराम भगवान् की कृपा पर अधिक जोर देते हैं। भगवान् की कृपा प्राप्त करना ही जीव का लक्ष्य है। भगवत्कृपा पर ही सब कुछ अवलम्बित है—

सब सनमुख तब जानियें, जबें कृष्ण सनमूख।
ये विमूख त्री होत है, अशुभ, दोख सब दूख॥[1]

ईश्वर की कृपा सहज ही प्राप्त होती है। सारे संसार में उसका प्रसार है। कर्म से ही सब कुछ नहीं होता है, ईश्वर की दया भी चाहिए। देखिए साँड़ सुख से सोता है, बैल का काम करते-करते तेल निकल जाता है—

हरि आश्रय बांनो सुबड़, केवल क्रतिहि न सत्य।
बैल दुखी बलिवर्द सुख, जिमि देखहु दुह कृत्य॥

ईश्वर साधन साध्य नहीं है, उसकी प्राप्ति उसी की कृपा से होती है—

कृपा न जामें सो प्रभू, देखे साधन राह।
तुम तो करुना के निधी, क्यों न निवाज्यो नाह॥[3]

भक्ति की पराकाष्ठा तब आती है जब भक्त सब कुछ छोड़कर भगवान् पर सम्पूर्ण रूप से अवलम्बित हो जाता है। यह उसकी अनन्य भक्ति है। उसका एक मात्र आश्रय प्रभु का आधार है। उसका सारा जीवन प्रभुमय बन जाता है। भगवान् रूठें तो भी ठीक, सन्तुष्ट हों तो भी ठीक। तारेंगे तो भी ठीक, मारेंगे तो भी ठीक—

---

१. द० स० दो० ६२४।
२. वही दो० ३४६।
३. वही दो० १४।

रूठोंगे प्रभु रूठिहों, तोंहू कछू न सोख।
क्रोध तिहारों सुहु हमें, देगो फल बर मोख ।।[1]

भक्त इष्टमय हो जाता है। प्रभु के समीप पहुँचना चाहता है। प्रभु से आग्रह भरी प्रार्थना करता है, अपनी सम्पूर्ण सत्ता प्रभु में विलीन कर देता है—

देवी नांहि न देव को, निज ओंतार हु कोंन।
राजहु राधाकृष्ण जुग, निति मो सिर उरभोंन ।।
मति धरम रति कृष्ण मम, गति बृन्दावन धाम।
कृति सेवा श्रीनाथ कब, होंहें रट हरि नाम ।।[2]

इसके पश्चात् वह स्थिति आती है जब भक्त सर्वात्मना अपने आपको प्रभु को समर्पित कर देता है। शास्त्रीय भाषा में यही प्रपत्ति है। प्रपत्ति ही शरणागति है। प्रपत्ति के छः अंग हैं—

अनुकूलस्य संकल्पः प्रतिकूल विसर्जनम्।
करिष्यतीति विश्वासः भर्तृत्वे वरणं तथा।
आत्मनैवेद्यकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ।।

भगवान् जो चाहे सो करे, भक्त को सब कुछ स्वीकार है। अतः शिकवा-शिकायत का कोई प्रश्न ही नहीं रहता। शरण में भक्त आ पड़ा है, अब भगवान् को जो उचित लगे वह करें। दयाराम कहते हैं—

जानूं कछु न अबिधि बिधि, सरन पर्यो व्रजराय।
आछी लगें जु आपकूं, सो कृत लेहु कराय ।।
तारों मारों हों धनी, ताकों मो नहि सोष।
पें कहियें न अशक्य कों, बूर्यो तेरे तोष ।।[3]

भगवान् के मिलन में जो प्रतिबन्धक हो, उससे दूर रहना प्रपत्ति का दूसरा अंग है। इस आशय से प्रेरित होकर भक्त माया, मोह, काम, क्रोध और हरि-विमुखों से दूर रहता है, उन्हें त्याज्य मानता है। दयाराम इस तथ्य की पुष्टि करते हुए कहते हैं—दुनिया में सब मलीन हैं, मुरारि का नाम ही पाप पुंजों से दूर करता है। समस्त कुटिलता और काम-वासना को हरि ही दूर कर सकते हैं—

---

१. द० स० दो० ६।
२. वही दो० २२।
३. वही दो० ४१, ३७।

सकल मलिन सब जनम के, हर इक नाम मुरार।
दिखत दीप अमिताब्द कों, ज्यों तिहार संहार ॥[1]

प्रपत्ति का तीसरा अंग है—'भगवान् रक्षा करेगा'—यह अटल विश्वास। भक्त का भगवान् में यह अटल विश्वास होता है कि भगवान् भक्तों की रक्षा करते हैं। दयाराम कहते हैं—'भगवान् तुम्हारा ही भरोसा है। तुम्हारे बिना भवसागर से पार करने वाला कोई नहीं है। कृष्ण का ही भरोसा है, केवल वही उद्धार करेंगे—

अभय कृष्ण आराधिका, और देव की आस।
जामें नहि बलभद्र कों, जमना भाजें त्रास ॥[2]
नाम बिसम्भर कृष्ण कों, जिन मन सोते रंच।
न्हेचें धृउ धर करि हरि, चुगना रचिकें चंच ॥[3]

एकान्त में भगवान् का वर्णन करना, स्मरण करना, ध्यान करना, उनकी कीर्ति का गायन करना आदि प्रपत्ति के चौथे अंग हैं। दयाराम बड़े प्रेम से भगवान् का स्मरण करते हैं। उनके गुणों का गान करते हैं उनकी महिमा का चित्रण करते हैं—

बल जेतो हरि नाम इक, दुहन पाप को आंहि।
कोटि कलप करि करन कों, तितों ओज जिय नांहि।
टरै न श्री हरि नाऊसों, ऐसो अघ नहिं कोय।
ऐसी वस्तु न होय जो, नभ निमग्न नहिं होय ॥[4]

आत्मनिक्षेप या आत्मनिवेदन में भक्त प्रभु के प्रति समर्पित हो जाता है। भगवान् और भक्त के बीच प्रेमी-प्रेमिका की भूमिका के बीज इसी में निहित हैं। प्रेमा-भक्ति के विषय में पहले कहा जा चुका है। यहाँ आकर तदाकारिता की वह अनुभूति पैदा हो जाती है, जिसे दयाराम ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

मुकर मुकर सब वस्तु भई, नयन अयन किय लाल।
द्रग पसारुं जित-जित अली, तित-तित लखूँ गुपाल ॥[5]

प्रपत्ति का छठा अंग है कार्पण्य। दीनता भक्ति का सबसे बड़ा हथियार है। दीनता, नम्रता, प्रार्थना, याचना आदि के द्वारा भगवान् को दया करने के लिए आर्द्र किया जा सकता है। दयाराम के शब्दों में—

---

१. दयाराम सतसई, दो० ६५६।
२. वही दो० २६६।
३. वही दो० ३६६।
४. वही, ३४२। ३४१
१. दयाराम सतसई : दो० १००

चिन्ता उदधि निमग्न हों, भयों गहे को हाथ।
एक तिहारों सरन हौं, बडवानल ब्रजनाथ ।।[१]

३. भक्त और भगवान्—

भगवान् का शील-स्वभाव ही ऐसा है कि वे स्वयं भक्तों की देखभाल करते हैं। भक्त उन्हें सबसे अधिक प्रिय हैं—यो मे भक्तः स मे प्रियः। भक्त को कहने की आवश्यकता नहीं रहती है। दयाराम आश्वस्त हैं कि प्रभु कृपा करेंगे ही—

अपने अपने सील कों, सब को करत निभाव।
तुम कृपाल हम जीउ तो, सहजहि दुष्ट सुभाव ।।[२]

भक्त का एक मात्र आधार होता है भगवान् और भगवान् के प्रेम का एक मात्र पात्र होता है भक्त। सिहनी का दूध कंचन के पात्र में ही ठहरता है, हरि का प्रेम भक्त को ही खोजता है। भक्त प्रभु का छोटा पुत्र है। छोटे पर माँ-बाप का अधिक स्नेह होता है—

सोई भाजन प्रेम रस, प्रकट कृष्ण के गात्र।
पय पुंडरिकनी को न जो, रहि बिन कंचन पात्र ।।
भक्त बाल बड़ ग्यानि सुत, जुग्म जानि जदुराइ।
पें न प्यार बाछल्य व्हाँ, सिसुपै अति अधिकाइ ।।[३]

भक्त जितना निर्धन, अकिंचन उतना वह उसको प्यारा। दुर्योधन की मेवा त्याग कर भगवान् ने विदुर की सूखी रोटी खाई। वास्तव में भक्त पर जब भगवान् की कृपा होती है तब वह भगवान् से भी अधिक बलवान् हो जाता है। जिस अग्नि से लोहा गर्म होता है उस अग्नि को छूना आसान है पर उससे गर्म लोहे को छूना कठिन है—

बड़े सन्त भगवन्त तें, पें बल अधिकों दास।
धग्यों लोह जाइ न गह्यों, ज्यों कछु सरल हुतास ।।[४]

भक्त अपनी भक्ति की चरम सीमा में भगवान् के साथ अनेक प्रकार से अपना नाता जोड़ते हैं। वे अपने आपको दीन-हीन, पापी-अधम, छल-कपटी, अति लघु और विनीत बताते हैं और भगवान् को महान् शक्तिशाली, अधम-उद्धारक, स्वामी और विभु बताकर नाता जोड़ते हैं। कभी दीन-दयालु कभी पापी-पापहारी, कभी डूबने वाला और तैराक, कभी दास और स्वामी, कभी

---

१. दयाराम सतसई दो० २३।
२. वही, दो० १०।
३. वही, दो० १३९, ३१५।
४. वही, दो० ४७।

दुष्ट और साधु आदि पारस्परिक सम्बन्ध जोड़कर नैकट्य स्थापित करते हैं। भक्तों का आशय यह होता है कि भगवान् गुणों के कारण ही नहीं, दोषों के कारण भी उद्धार करता है। इसमें भक्त की अन्तर खोज का वह दीपक जल उठता है जो उसके हृदय के कोने-कोने को उजागर कर देता है। दयाराम ने भी ऐसे अनेक सम्बन्ध प्रभु से जोड़े हैं—

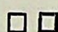
लखिहों आप जु आपपन, आप नेंन गोपाल।
तों का पाप प्रताप मों, हरि हरिहों दुखजाल ॥
तुमसें तारन निकट मों, बूरत गहों न हाथ।
साखि बनत यह समय का, भले ठरोगे नाथ ॥
करिहों नीकी नाथ सब, मेरी मो बिश्वास।
भली करत हों जक्त की, हों तों घर कों दास ॥[1]

भक्त कभी भगवान् से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध जोड़ लेता है कि वह अपनी खीझ भी प्रभु के सामने प्रकट करने में संकोच नहीं करता है, जैसे मुँहलगा भृत्य या निष्ठावान् सखा। दयाराम भी प्रभु को सुना देते हैं—'अरे बलवीर! तुम तो बड़े विवेकी हो, फिर यह अन्धेर क्यों? क्या मैं अजामिल से कम हूँ? तो मुझे तारने में इतनी देर क्यों? यदि मैं अपने बल से तरूँगा तो इसमें तुम्हारी क्या बड़ाई! उल्टा तुम्हें अपयश मिलेगा। अतः मुझे तारोगे तो तुम्हारा ही यश सुरक्षित रहेगा—तुम्हें ही लाभ है।'

'अरे प्रभो! तुम्हारा कैसा विवेक है? कैसा स्वभाव है? देखो गृद्ध और गणिका स्वर्ग में मौज उड़ा रहे हैं और भूतल पर भले मनुष्य भटक रहे हैं। तो क्या अपने यश का सिंधालोन डालकर अचार बनाओगे? देखिए—

बड़ बिबेक बलबीर तुम, क्यों कहिए अन्धेर।
अजामिल सों हूँ न में, सुनत न मेरी टेर ॥
साधन बल हों तरुँगो, प्रभु का तुम एंसान।
करिहों तारन बरद का, डारि सिंधानो लोंन ॥[2]

दयाराम की भक्ति-भावना मूलतः पुष्टि मार्गीय भक्ति-भावना है। भगवान् का प्रेम सम्पादन करना ही जीवन का परम सौभाग्य है। प्रेमलक्षणा भक्ति ही सर्वोत्तम भक्ति है। उसमें प्रेम, आसक्ति, व्यसन और तन्मयता के सुन्दर चित्र उभरे हैं। भक्त के सारे व्यक्तित्व को आत्मसात् करती हुई दयाराम की भक्ति-भावना प्रभु का सामीप्य प्राप्त करने में समर्थ है।



---

१. दयाराम सतसई दो० १३६, ३१५।
२. दयाराम सतसई : दो० ५६८; ४६२।

७. प्रेम भावना

मानव-जीवन में सबसे अधिक वरेण्य वस्तु प्रेम है। संसार-प्रपंच के मूल में भी यही भावना निहित रहती है। इसलिए प्रेम के अनेक रूप हैं, विविध व्याख्याएँ हैं। वह संसार-चक्र की धुरी है जिसके आधार पर संसार गतिशील होकर घूमता रहता है। साधारण प्रियता या पसन्द को लेकर सर्वात्मना समर्पण तक की भाव छायाओं को प्रेम अपने आपमें आवृत कर लेता है। वह बड़ों के प्रति श्रद्धा बन जाता है, छोटों के प्रति प्यार, बराबरी वालों के प्रति वह सख्य है तो ईश्वर के प्रति परा अनुरक्ति है। पुत्र के लिए माता को प्रेम-वत्सलता है तो माता के लिए पुत्र का प्रेम आदर और श्रद्धा। समस्त मानवीय सम्बन्धों की तह में प्रेम की अन्तःसलिला सरस्वती विद्यमान रहती है।

परम भागवत श्री रूप गोस्वामी कहते हैं—'जिस भाव के कारण अन्तः-करण अतिशय कोमल हो जाता है, जिससे अत्यन्त ममत्व होता है उस भाव को विद्वान 'प्रेम' कहते हैं। मानव-मन की द्रवीभूत अवस्था ही प्रेम है।

सम्यग् मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयांकितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैर्प्रेमा निगद्यते ॥'[1]

दयाराम भक्ति में सराबोर थे। प्रेम लक्षणा भक्ति उनकी साध्य थी। प्रेम में वे आकंठ निमग्न थे। प्रेम उनकी कविता का केन्द्र है। उनकी भक्ति की नींव प्रेम की धरती पर पड़ी है। उनकी भक्ति प्रेममयी है और प्रेम भक्तिमय।

दयाराम ने सतसई में पचास दोहों में प्रेम के विषय में अतिशय मार्मिक और सटीक उक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। दयाराम-साहित्य के अधिकारी विद्वान् डॉ० नागरजी ने दयाराम की प्रेम-भावना के विषय में अपना मत प्रकट करते हुए लिखा है—'प्रेम की महिमा का बड़ा ही सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक वर्णन सतसई में दिया गया है।'[2] सतसई के प्रेम-विषयक दोहों में दयाराम ने प्रेम के सभी पहलुओं की अपनी धारणा के अनुरूप समर्थ अभिव्यक्ति करने में सफलता पाई है।

प्रेम अजोड़ है, अमूल्य है। वह सर्वोपरि है। सर्वव्यापक है। वह विचित्र है, अनिर्वचनीय है। वह नित्य नूतन है, कार्य-कारण की पहुँच से दूर है। वह दुख में भी सुख पर्यवसायी है। जैसे आकाश का अन्त नहीं दिखाई देता है, चिन्तामणि का मूल्य नहीं आँका जा सकता है, जीवों की संख्या की गणना

---

१. भक्तिरसामृतसिन्धु पूर्व भाग/४ लहरी।
२. दयाराम सतसई, भूमिका, पृ० २२।

नहीं की जा सकती है, उसी प्रकार प्रेम की इयत्ता भी नहीं बताई जा सकती है, वह अमृत से भी मीठा है, अंगूर से भी अधिक रसीला है। अंगूर और अमृत जैसे सहस्रों फल उसके कदमों पर न्यौछावर किये जा सकते हैं। योग, यज्ञ, जप, तप, तीर्थ, ज्ञान, धर्म, व्रत और नियम उसके सामने नादान हैं।

'लही न अन्त अकास कहुँ, चिन्तामनी न मोल।
संख्या नाहीं जीउ की, तेंसे प्रेम अमोल।।
जेंसो मीठो नहिं पियुस, नहिं मिसरी नहिं दाख।
तनक प्रिय माधुर्य पैं, न्योंछावर अस लाख।।'[1]

प्रेम का प्रभाव बड़ा पैना होता है। उसकी लपेट में आकर फिर छूटना दुष्कर है। वह वैर भुला देता है! पराये को सहोदर से भी अधिक मानता है। उसके स्पर्श मात्र से जहर भी अमृत बन जाता है। मन के चंचल पारे को स्थिर रखने के लिए प्रेम गंधक है। अन्य जड़ी-बूटियों से चंचल मन हाथ में नहीं आता है। प्रेम की डोर उसे खींचकर ला देती है। प्रेम में गाली भी मीठी लगती है। प्रेम का फन्दा भी बड़ा अजीब होता है, अन्य फंदों में पड़ने वाले और होते हैं, बिछाने वाले और होते हैं। पर इस फन्दे में तो फन्दा बिछाने वाला ही शिकार बन जाता है—

'करें सहोदर तें सरस, दे बिसराई वेंर।
प्रेमी पानी परस तें, सुधा सरस हुइ झेर।।
मन-रस रस-गंधक मिल्यों, चपल अचलता पाय।
ओंर जतन बहु बुट्टि तें, ज्यों कबु गह्यों न जाय।।
व्याध फन्द मृग परतु है, बंध अहेरी हें न।
प्रेम अजब बागूर में, पारनहार बचें न।।'[2]

प्रेम अनिर्वचनीय है। उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वह विचित्र भी है, विस्मयकारी भी है। वह सुख में दुख की सम्भावना है और दुख में सुख की एकमात्र आशा। उसको व्यक्त नहीं किया जा सकता है। वह गूंगे का गुड़ है, मूक की मिसरी है—

'प्रेमामृत को स्वाद कस, को कबु कह्यो न जाय।
अनुभविकों हिय जानही, मुक मिसरी की नांय।।
सुख में दुःख सनेह में, विद्वन देहु जुवाप।
जो सुख तो सब करत क्यों, क्यों सुख तो परिताप।।'[3]

---

१. 'दयाराम सतसई' : सं०—डॉ० अम्बाशंकर नागर, दोहा—६१, ८३।
२. वही, ८२, ९१, ६३।
३. वही, दोहा ६४, ८४।

प्रेम करना सरल काम नहीं है। प्रेमी भी सहस्रों में से एक ही होता है। प्रेम की बाजी जीतना बायें हाथ का खेल नहीं, दायें हाथ से सिर काटने का चमत्कार है। उसके लिए सब कुछ त्यागना पड़ता है। लोक-लाज, कुल, वेद और विवेक का बल उसके सामने हस्तावनत है। ज्ञानी, तपस्वी अनेक मिल जाते हैं परन्तु प्रेमी मिलना कठिन है। प्रीति प्रारम्भ में भली लगती है, पर फिर उसकी रक्षा में प्राणों की आहुति देनी पड़ती है—

'होत प्रीति नीकी लगें, फिरि अरि त्यों लें प्रान।
कुम्भिनी निगलत जब म दुःख पाछें ज्यों जीय ज्याँन॥
ज्ञानी तपस अनन्त पें, शुद्ध प्रेमी कहुँ एक।
जेंसें करि हरि ज्यूह त्यों, सिंह न होंहि अनेक।
प्रेम नेह यह वह लहें, दहें मन्न निति देह।
बरें बिना दीपहु न ज्यों, पावत पिवन सनेह।'[1]

प्रेम के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर विचार करते हुए दयाराम अब प्रेम के निर्माण में मदद देने वाले तत्वों की ओर बढ़ते हैं। प्रेम एक चिनगारी है, जो नेत्रों के चकमक के संघर्ष से पैदा होती है और रूप रूपी रुई को पकड़ते ही सुलगकर, गुण रूपी लकड़ी का सहारा पाकर प्रज्वलित हो उठती है। नजरों की यह आग बड़ी जानदार है। इससे बचने का कोई उपाय नहीं है। अन्य नजरों से तो बचा जा सकता है, पर इस नेत्रदुहिता से तो तोबा-तोबा। इसके बिना अमृत भी जहर बन जाता है। ज्ञानी भी मूर्ख हो जाता है, मित्र भी अरि में बदल जाता है। इतना ही नहीं, 'सब' कुछ 'शव' बन जाता है। इसके पोषक हैं—रूप, द्रव्य, गुण और नाशक हैं—छल-कपट, दुर्वचन और परासक्ति। नायक, नायिका और दूती के सुभग समन्वय से प्रीति साकार होती है। औरों के प्रति ईर्ष्या और प्रिय के विरह की पीड़ा—ये दो प्रीति के बड़े अङ्ग हैं—

'चकमक-सु परस्पर नयन, लगन प्रेम परि आग।
सुलगि सोगठा रूप पुनि, गुन दारु दृढ़ जागि॥
रूप द्रव्य गुन उदय रति, पोषक सेवा सत्य।
लय परलगन कितब कुवच, जद्यपि में दृढ़ अत्य॥
ओंर अरिस्या विरह दुख, हिलग अंग बड़ दोय।
सिखी धूम्र ओं ताप बिन, जिमि कहुँ कदा न होइ॥'[2]

भवभूति ने अपने 'उत्तर रामचरित' में कहा है कि 'प्रीति को किसी बाहरी उपाधि की आवश्यकता नहीं रहती' है—

---

१. 'दयाराम सतसई' : सं०—डॉ० अम्बाशंकर नागर, दोहा ११५, १०४, १३१।
२. वही, दोहा ६८, १०३, १४६

'व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतुः,
न खलु बहिरुपाधीन्प्रीतयः संश्रयन्ते।
विकसति हि पतंगस्योदये पुण्डरीकं,
द्रवति च हिमरश्मावृद्गते चन्द्रकान्तः ॥'[1]

दयाराम भी प्रीति के लिए किन्हीं खास कारणों से पक्षपाती नहीं हैं। रूप, वर्ण और गुण—इनमें से प्रेम के लिए कोई भी प्रमाणभूत नहीं हैं। यदि कोई कारण भी हो तो भी प्रीति उसके आधार पर नहीं चलती है—

'नहि प्रमाण हित होंन कों, रूप वरन गुन कोय।
कहाँ अमर ईधन धुँआ, मृगमद सों मति पोय ॥
कारन कछु रति होंनघर, चहि फिर रहु या जाव।
वेली जब मण्डप छही, ब्होंर न काम लगाव।'[2]

प्रेम के लिए पात्रों का होना आवश्यक है। दो पात्रों के बीच ही प्रायः प्रेम का निर्माण होता हुआ दिखाई देता है। प्रेम की सम्पूर्ण कलाएँ तब विकसित होती हैं जब उसमें काम का सम्पुट लग जाता है। काम सब कुछ नहीं है। जैसे गहनों के निर्माण में लाख का अपना योगदान है उसी प्रकार प्रेम-पात्रों में प्रेम का पौधा रोपने के लिए काम आवश्यक माना गया है। दयाराम कहते हैं—

यार चामिकर मन मनी, मेनभाय तुछ लाख।
ता बिन जमत न स्वाद श्री, भूषन रति वे खाख।[3]

लाख सोने के आभूषणों में मणि जमाने की प्रक्रिया में स्वयं खाक होकर उसे ढाँचा देकर साकार कर देती है। काम का कार्य भी प्रेम के पल्लवन में कुछ एतादृश ही है। दयाराम प्रेम में काम के पक्षपाती हैं।

प्रेमी-प्रेमिका एक प्राण दो शरीर हैं। एक-दूसरे के अधीन रहना उनकी पहली शर्त है। एक-दूसरे पर ही ध्यान केन्द्रित करना—दूसरी शर्त है। एक दूसरे के अवगुणों को मन से बाहर निकाल देना—तीसरी शर्त है। प्राणों से भी अधिक प्रिय को मानना—चौथी शर्त है। दोनों के स्नेह में सम्पूर्ण एकता होनी चाहिए,—

श्रुति लोचन लों मीत द्वें, अपर आत्म दो देह।
सब भाँती सों ऐक्यता, ऐसों दुर्लभ नेह ॥[4]

---

१. 'उत्तर रामचरित' अंक—६, श्लोक—१२ ।
२. 'दयाराम सतसई, : सं०—डॉ० अम्बाशंकर नागर, दोहा ६२, १११ ।
३. 'दयाराम सतसई' : सं० —डॉ० अम्बाशंकर नागर, दोहा १३२ ।
४. वही, दोहा १७० ।

जो एक-दूसरे को देखकर जिएँ, मिलकर अलग न हों—ऐसे आशिक-माशूक धन्य हैं :—

देखि जिएँ परसि न छूटें, माशुक आशक धन्य।
जेंसें लोह चमक लगी, टरें न लख चेंतन्य ॥[1]

प्रेमी के अवगुणों पर ध्यान नहीं देना चाहिए। अवगुण तो शव के समान हैं। प्रेमी-हृदय सागर है। सागर शवों को अपनी तलहटी में नहीं ले जाता अपितु ऊपर-ही-ऊपर तैराते हुए उन्हें एक अपरिचित किनारे पर फेंक देता है। प्रेमी को भी अपने प्रिय के अवगुणों को एक किनारे पर डाल देना चाहिए :—

ओंगुन वल्लभ को कबू, टिकें नहीं उर आय।
ज्यों सब सागर पेट में, रहै न निकसो जाय।[2]

एक-दूसरे में सम्पूर्ण रूप से खो जाना ही प्रेम की चरमावस्था है। इसी को शास्त्रीय भाषा में तदाकार परिणति या तादात्म्य कहते हैं। दयाराम ने इस प्रेम की तदाकारिता को अपनी सतसई में बड़े उच्छ्वसित स्वरों में गाया है। कुछ प्रसंगों के द्वारा भी इस महास्थिति को रूपायित करने का उन्होंने स्तुत्य प्रयास किया है। एक गोपी अपनी सखी से कह रही है कि देखो आज गजब हो गया है। कृष्ण का मुख देखते-देखते तो मैं इतनी खो गई कि मेरी गागर में पानी भरने के बजाय पानी पनघट पर ही बिखर गया—

सुखरासी सुध न रही, लखि के मुख सुखरासि।
रस लेते रस बीखर्यों, पनघट भई उपहासि ॥[3]

पनघट पर वह अपनापन भूल जाती है। उसकी इज्जत को धक्का लगता है, तो भी वह पनघट पर जाने का लोभ संवरण नहीं कर सकती है क्योंकि वहाँ उसे तदाकार होने का मौका मिलता है :—

पनघट पनघट जाय पन, घट पनघट को ध्यान।
पनघट लाल चढ़ाय दें, अलि पनघट सुख खाँन ॥[4]

सर्वत्र अपने प्रियतम की छवि का दर्शन करना प्रेम की सर्वोपरि अवस्था है। कालिदास के विक्रम ने, जायसी की पद्मावती ने इसी प्रकार के तादात्म्य को अंगीकार किया है। दयाराम भी प्रेमी की इस तदाकारिता की एक सुन्दर अभिव्यक्ति करते हैं :—

१. 'दयाराम सतसई' : सं०—डॉ० अम्बाशंकर नागर, दोहा ११६।
२. वही, दोहा १५०।
३. वही, दोहा ७६।
४. वही, दोहा ७७।

मुकुर मुकुर सब वस्तु भई, नयन अयन किय लाल।
द्रग पसारुं जित-जित अली, तित-तित लखूँ गुपाल ॥[१]

इससे मिलती-जुलती दूसरी एक अवस्था है, जहाँ प्रेमी प्रेमिका में और प्रेमिका प्रेमी में अपनी पहचान देखते हैं। राधा कृष्ण बन जाती हैं और कृष्ण राधा :—

स्यामा स्याम पुकारती, स्यामा रटते स्याम।
अली अचम्भो आज बड़, जुगल जपत निज नाम ॥
हरि हरिवदनी सों लिख्यों, हम ध्यावत तुम ध्याउ।
का चिन्ता हम तुम बनें, तुम हमसे ह्वै जाउ ॥[२]

विरह वर्णन—

प्रेम में उसकी पीड़ा का अनन्य महत्व है। 'प्रेम की पीर' को अनुभवी ही जानते हैं। प्राणों की पीड़ा से भी प्रेम की पीड़ा अधिक तीव्र होती है। प्राण की पीड़ा तो सहन की जा सकती है, पर प्रेम की पीड़ा असह्य होती है। उस पर मजा यह है कि प्राणी अन्य पीड़ाओं से तो दूर भागता है पर इस निगोड़ी को वह हृदय से सटाये रखता है :—

विषई विष भच्छन करत, बहुत बिगारत भूख।
पें मन हें सच त्यों समुझि, रति दुख में हू सूख ॥
रति सुख-दुख जानें न कों, बिन इक अनुभोंकारि।
विदित न पीर प्रसूत जिमि, वंध्या नागरि नारि ॥
प्रिय प्रानन सम सब बदें, मेरे मन अस नांहि।
प्रिय की पीर न सहि परें, असु रुज सोसी जांहि।[३]

'प्रेम की इस पीर' की 'परमानुभूति' होती है विरह में। प्रिय-पात्र के समीप न होने से जो भावना बनती है, उसे विरह भावना कहा जाता है। प्रेम के लिए विरह आवश्यक है। 'साहित्यदर्पणकार' विश्वनाथ महापात्र का कहना है :—

न विना विप्रलंभेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते।
कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागो विवर्द्धते ॥[४]

वियोग के विना संयोग की पुष्टि नहीं होती है। किसी भी वस्त्र पर गाढ़ा रंग चढ़ाने के पूर्व उसे हिरमिज में रंगना पड़ता है, इसके बाद लगाए

---

१. 'दयाराम सतसई' सं०—डॉ० अम्बाशंकर नागर, दोहा १००।
२. वही, दोहा ७८, ८०।
३. वही, : दोहा ८५, १२२, १५२।
४. 'साहित्य दर्पण' : कलकत्ता संस्करण, तृतीय परिच्छेद २१५, पृ० १६४।

गए रंग की चमक बढ़ती है। दयाराम भी प्रेम में 'विरह' को महत्व देते हैं। प्रेम की लता ही ऐसी है, जो विरह अग्नि से ही हरी-भरी होती है और मिलन रूपी पानी से मुरझा जाती हैं। वास्तव में 'रति' विरह में सुख देती है जैसे करेला प्रथम कड़वा लगता है पश्चात् वह मृदु हो जाता है। धूप में तपे बिना पेड़ों की सघन छाया का मीठा अनुभव नहीं हो सकता है, ठीक उसी प्रकार विरह की आँच में तपे बिना प्रेम की मृदुता की अनुभूति नहीं हो सकती है। स्नेह का भाव ही विरह है। जितना बड़ा संताप उतना गहरा प्रेम। पीर के बिना प्रीति कैसी ?

पीर बिना प्रीती कहूँ, चितइ न सुनि अद्याप।
ताप बिहिन त्रष्णा न जिमि, बिन त्रष्णा न सँताप।
बिना बिरह अनुभों दइत, तति रति उपजें नांहि।
जिमि बिनु आतप तनु तयें, मिष्ट न लगि द्रुमछांहि।[1]

जैसे-जैसे विरह बढ़ता जायगा वैसे-वैसे प्रेम में बढ़ोतरी होती जायगी, सोना भी उतना ही निखरता है जितना वह आग में तपाया जाता है :—

जिमि आरति तिमि रति बढ़ें, अति यह हिलग अनूप।
ज्यों तपाइये त्यों अधिक, ज्यों अष्टापद रूप॥[2]

दयाराम प्रेम के कवि हैं। प्रेम के विविध पक्षों का उन्होंने सुन्दर निरूपण किया है। प्रेम में काम के पुट का अस्तित्व उन्होंने खुले मन से स्वीकार किया है परन्तु उसका महत्व आभूषणों के निर्माण में लाख के जितना ही है, यह स्वीकार किया है। आभूषण के बन चुकने पर लाख को खाक (भस्म) किया जाता है। प्रेम के पुष्ट होने पर काम को भी खाक कर देना चाहिए—यह उनका मत हो सकता है। प्रेम की विचित्रता, विशेषता, अनिर्वचनीयता और प्रेम में पीड़ा और विरह के पहलुओं पर सूक्ष्म विचार किया गया है। दयाराम ने प्रेम की व्याख्या देते समय लौकिक, यथार्थ उदाहरण देकर प्रेम संबंधी अपने विचारों को सुन्दर रूप से व्यक्त किया है गुजराती में भी दयाराम ने प्रेम का ऐसा ही निरूपण किया है। गुजराती साहित्य के आलोचकों ने 'मस्त प्रणयी कवि' कहकर 'प्रेम के कवि' के रूप में उनकी प्रशंसा की है। यथार्थ प्रेम की एक पुष्पांजलि के रूप में कवि की ही एक गुजराती उक्ति से इस विवेचन की उपसंहृति करें :—

आपण साचो स्नेह कीजिए परस्पर कोल रे।
तमे कहो ते अमो करूं, तमे पालो अमारो बोल॥[3] □□

---

१. 'दयाराम सतसई' : दोहा २३९, २३८।
२. वही, दोहा १६५।
३. 'दयाराम काव्य सुधा' : पृ० ४४।

८. रूप-वर्णन

रूप वर्णन, विशेषतः भारतीय कविता का श्रृंगार रहा है। रीति-कालीन हिन्दी कविता का तो यह प्रमुख अंग ही बन गया था। शताधिक रूप-चित्रों से हिन्दी साहित्य की सभी विधाएँ अलंकृत हो गईं। मानवीय देह-सुषमा के कुशल चितेरे कवि एक-से-एक बढ़कर रूप-चित्रों का सर्जन करने लगे। रूप में काम, सौन्दर्य और प्रेम का त्रिवेणी-संगम होता है। इसलिए साहित्य में रूप का महत्व सनातन है।

दयाराम पुष्टिमार्गीय भक्त थे। पुष्टिमार्ग में भगवान के रूप के प्रति आसक्ति को भी भक्ति का एक प्रकार माना गया है। दयाराम रूप की महिमा को पहचानते हैं। उसे गुण से भी बड़ा समझते हैं। गुण तो जानकार को ही घायल करता है, परंतु रूप जानकार और अनजान, परिचित और अपरिचित, दोनों को चारों खाने चित्त कर देता है—

> लगत रूप बड़ गुनहु ते, कर देखत अनुमान।
> करे जखिम गुनि जानि इक, रुप दुहु जांन अजांन ॥[1]

गुण को रूप का सहारा चाहिए क्योंकि गुण में जब रूप का संयोग होता है तो उसका आकर्षण बढ़ता है—

> कोंन न पूजे ताकु फिरि, ब्राह्मन अरु हरिभक्त।
> रूपबन्त सहु गुनि जिमी, तापें सब आसक्त ॥[2]

रूप के जादू का असर सर्वत्र दिखाई देता है। चतुर इसमें हलाक हो जाते हैं, मूढ़ घूमते-घामते ही रहते हैं। रूप-भूप के राज की रीति-नीति यही है—

> रूप भूप के राज में, यह महान अन्याय।
> नांम न लें कों मूढ़ को, च्यातुर मारे जाय ॥[3]

दयाराम का रूप-वर्णन संक्षिप्त है। संयमित भी है। दयाराम ने मुँह, नेत्र, अधर का कुछ अधिक वर्णन किया है। शेष अंगों का तो उल्लेख मात्र है, जो उसके सौन्दर्य की एक गूढ़ झलक ही निवेदित करता है। इसलिए दयाराम का रूप-वर्णन नखशिख कोटि का न होकर केवल विशेष अंगों का वर्णन मात्र है।

---

१. 'दयाराम सतसई' : छन्द ६७१।

२. वही, छंद ६७२।

३. वही, छंद १२१।

रूप-भूप के गुप्तचर हैं नेत्र। नेत्र ही रूप का आनन्द लूटते हैं, वाणी उसे व्यक्त करने में असमर्थ हैं—

> राज रूप-रसाल सुख, समुझत हैं मो नेंन।
> पें न बेंन हैं नेंन कों, नेंन नहीं हैं बेंन ॥[1]

रूप के बखान में वाणी छोटी पड़ती है, पर हृदय को जो जुबान दी गई होती तो हृदय जरूर उसे कहे बिना नहीं रहता—

> केंसे प्यारे लगत हों, कहत न पावत पीय।
> कहें दिखावत बांनि जो, दें दें होती हीय ॥[2]

ऐसे 'गूंगे केरी शर्करा' रूप की, दयाराम ने अपनी 'सतसई' में कुछ 'सद्य प्रीतिकरी' झलक दिखाने का सुन्दर प्रयास किया है।

दयाराम कहते हैं कि रूप का प्रभाव बड़ा तेज होता है। वह तो दृष्टा की लज्जा, बुद्धि, बल और स्मृति-धृति को भी तिरोहित कर देता है, उसे मौन-मुग्ध बना देता है—

> व्रिड़ सुधि बुधि लखत ही, माशुक आशुक जाय।
> अलि कठोर ज्यों बँस कट, मृदु सरोज मुरझाय ॥[3]

कमल के रूप से मुग्ध भौंरा कठोर बाँस को काटने में समर्थ होने पर भी अपनी शक्ति को भूलकर मुलायम कमल के सामने झुक जाता है।

रूप के मैदान में नेत्र बड़े योद्धा हैं, हथियारों से सज्ज। उनके पास सेना है, तलवार है, ढाल है फिर भला उनके सामने टिकने की शक्ति किसमें होगी? स्वयं लालजी ही जब वेहाल हैं—

> इच्छन सेल रु भों असी, जनु गोलक गहि ढाल।
> राधे तेरे नेंन नें कीने लाल बेहाल ॥[4]*

नेत्र अद्भुत हैं। बिना हाथों लिपट जाते हैं। बिना बोले सब कुछ प्रकट कर देते हैं और बिना हथियार उठाये करारी चोट करते हैं।

---

१. 'दयाराम सतसई' : छंद १४४।
२. वही, छंद १४५।
३. वही, छंद ११८।
४. वही, छंद २५१।

* तुलनीय श्री रहीम।

> रहिमन चोट सुतीर कें, चोट खाइ बचि जाइ।
> नैन-वान के चोट तें, धनबल हू न बचाइ ॥

लिपटे पिय कों पानि बिन, बांनि बिनु कही बात।
अहो सलोंने द्रग अली, करें शस्त्र बिनु घात ॥[1]

आँखों की त्रिवेणी मुक्तिदात्री है। इनके काले गोलक, सफेद अपांग और लाल डोरे विरह से तत्काल मुक्ति दिलाते हैं—

ललना लोचन सित असित, गोलक डोरे लाल।
यह त्रिबेनी मज्जन लही, मुक्ति विरह गोपाल ॥[2]*

रसलीन ने आँखों में 'अमिय, हलाहल, मद' का निवास माना है। दयाराम ने आँखों में एक साथ अमृत, जहर को तो माना ही है, साथ-ही-साथ कहा है—नेत्र चंचल हैं, कृपालु हैं, प्रेमी हैं, वेधक हैं। वे मान से करारे हैं और लज्जा से अवनत हैं—

अमिबिध रस रति तरलता, क्रपा त्रपा रुचि मांन।
इत्यादिक गुन सदन श्री, लोचन उपमा कांन ॥[3]

दयाराम अधर-रस के पारखी हैं। अधर-रस के पान का प्रभाव ही अनूठा है। समीपस्थ सफेद नासा-मोती भी अधरों के राग से रक्त हो जाता है फिर पान का तो कहना ही क्या—

प्यारी तेरों अधर रस, क्यों बिसरें गोपाल।
बेंसरि निरमल मुक्त हू, जिहि परसत भों लाल ॥[4]

मुख तो चन्द्रमा है। उसकी आभा सम्पूर्ण उत्फुल्ल है। इसलिए दयाराम अपनी नायिका को सलाह देते हैं—

श्यामा तू जिन जाई सर, बिन घूंघट पट ह्योस।
परिहें तेरों बदन लखि, भोंर कोक मुख सोस ॥[5]

—श्यामा, घूंघट डाले बिना पनघट मत जाना। अन्यथा विचारे भ्रमर और चक्रवाक उदास हो जाएँगे। मुख को चन्द्रमा ही समझ लेंगे।

इन अंगों के अतिरिक्त अन्य अंगों के सौंदर्य की झलक मात्र दयाराम ने दी

---

१. 'दयाराम सतसई' : छंद २५२।

२. वही, छंद २५३।

३. वही, छंद २५४।

* देखिए तुलना के लिए—

'अमिय हलाहल मद भरे, स्वेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत, जिहि चितवत इस बार।'

—'अंग दर्पण' : छंद ३५।

४. वही, : छंद २५५।

५. वही, छंद २४६।

है। नायिका का सारा देह-सौंदर्य एक ऐसा भू-भाग है, जिसमें नाग है, भ्रमर हैं, सिंह हैं और ऊँचे-ऊँचे पर्वत हैं तो अमृत तुल्य जल से भरे-पूरे कूप भी हैं, यहाँ भय भी है, आनन्द भी है। नायिका के रूप-सौंदर्य पर मुग्ध प्रेमी कहता है—'तेरी नाग-वेणी और भृकुटी-भ्रमर मुझे डँसते हैं। कटि-सिंह मुझे डराता है। कुच-पर्वतों की ऊँचाई से मन उड़ने लगता है। चिबुक-कूप के पान के लिए ज्यों ही गया त्यों ही गिर पड़ा—अब उभारकर अभय दान दो—

डस्यों कस्यों हरि भ्रमित मन, हरिसुं धस्यो अमिपांन।
फस्यों चिबुक कुप थकि प्रिया, ताहि अभय दे दान॥[1]

—वेणी-नाग ने मुझे डँस लिया, भृकुटी-भौंरे ने कसकर पकड़ रखा, कुच-पर्वतों ने मेरा मन डुला दिया और मैं अमृत-पान के लिए ज्यों ही चला थककर चिबुक गढ़े में गिर पड़ा, अब तुम्हीं उबारो।

शरीर के नौ अंग अधिक प्रसिद्ध हैं। इनमें सबको दयाराम ने एक साथ लेकर सम्पूर्ण शरीर-सुषमा को व्यक्त करने का प्रयास किया है—

हरि कैसो मुख नयन हरि, कच कुच कटि कर पाय।
हरि सुबरन गति बेनी छब, राधा हरि सुखदाय॥[2]

—मुख चन्द्रमा के समान है। आँखें मृगनेत्र जैसी हैं। भौंरे जैसे काले बाल हैं। पर्वत से उत्तुंग कुच, सिंहसदृश कृश कटि, कमल जैसे कोमल हाथ-पैर, रंग सोने-सा और चोटी नागिन जैसी तथा गति (चाल) गज की-सी है। ये नौ ही शरीर-शोभा के निकष हैं। रूप में कुछ अंग तो आशिक भी हैं, और माशूक भी हैं—

कोंन कोंन तें कहूँ बिबुध, निगमागम कूँ बाँच।
श्री राधा के रूप में, आशिक माशुक पाँच॥[3]

—नेत्र रूपी कमल माशूक है और भृकुटी रूपी भ्रमर आशिक हैं। अधर रूपी बिम्बाफल माशूक है और नासिका रूपी शुक आशिक है। कुच रूपी पर्वत के माशूक पर कटि रूपी सिंह आशिक है। मुख रूपी चन्द्रमा के माशूक पर पेट रूपी कुमुद आशिक है। जंघा रूपी कदली पर गति रूपी हाथी आशिक है। प्रेमी-प्रेमिकाओं के ये युग्म शरीर में हो विद्यमान हैं। आँखों के सौन्दर्य पर भृकुटी मुग्ध है तो अधरों की ललाई पर नाक लट्टू। कटि की कृशता को कुचों की पृथुता पर गौरव है। मुख को पेट का अभिमान है और गति जंघा पर न्यौछावर है।

---

१. 'दयाराम सतसई' : छंद ६५१।
२. वही, छंद २५७।
३. वही, छंद ६६२।

दयाराम ने रूप वर्णन में आभूषणों को महत्व नहीं दिया है। प्रेमी के नजदीक तो वे निरर्थक हैं क्योंकि सौंदर्य को ढाँक देते हैं। हाँ, दुष्ट नजरों से सौंदर्य को बचाते अवश्य हैं—

मिलन समय मण्डन कहा, सु तन ढपें लगि साल।
भिरि आछें वपु वरम लों, तनक दूर जब लाल ॥[१]

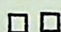
फिर भी रंग-बिरंगे वस्त्रों से विभूषित कृष्ण की एक छवि दर्शनीय है—

कुलहि लाल पित उपरना, मिल तनु नन्दकुमार।
प्रेम लपटि अनुराग सिर, मांनु मुरति सिंगार ॥[२]

कृष्ण के श्यामल शरीर पर पीला उपरना और लाल कुल्ला ऐसा लगता है मानो मूर्तिमान शृङ्गार ने प्रेम में लिपटकर अनुराग को सिर पर धारण किया हो। श्याम, पीत और लाल रंग के सम्मिश्रण का सुन्दर चित्र इन पंक्तियों में उभरा है। ऐसा ही एक चित्र बिहारी ने भी दिया है—

सोहत ओढ़ें पीत पट, श्याम सलोने गात।
मनौ नील मनि सैल पर, आतप पर्‌यो प्रभात ॥[३]

निष्कर्षत: दयाराम का रूप-वर्णन संक्षिप्त और संयमित है। रूप के प्रभाव का ही अधिकतर वर्णन हुआ है। उसमें भी आँखों का वर्णन मार्मिक और सुरुचिपूर्ण है।



१. 'दयाराम सतसई' : छंद ७०७।
२. वही, छंद २६४।
३. बिहारी, छंद ४।

९. नायिका-भेद

दयाराम रीतिकालीन कविता से प्रभावित थे। स्वभाव से वे रसिक और पुष्टिमार्गीय जीव थे। इसीलिए श्रीकृष्ण लीला के अन्तर्गत उन्होंने अपनी 'सतसई' में नायिका-भेद के कुछ चुने हुए चित्रों को ही संजोया है।

नायिका—

नायिका को नायक से अधिक महत्व दिया गया है। वह आकर्षण का केन्द्र होती है, नेत्रों का उत्सव मानी जाती है, अमृत का वह अधिष्ठान है, सुख की खान है और सन्तोष का सागर है—

अमृतस्येव कुण्डानि सुखानामिव खानयः।
संतोषस्य निधानानि योषिताः केन निर्मिताः ॥[1]

—जिसे देखते ही हृदय में प्रीति की लहर अँगड़ाई लेने लगे उसे नायिका कहते हैं—

• निरखत ही जिहि नारि के, नर हिय उपजें प्रीति।
ताहि कहत हैं नायका, जो जानत रस रीति ॥[2]

नायिका होने की क्षमता वही नारी रखती है, जिसके हृदय में काम और प्रेम की धाराएँ बह रही हों, जिसके अंग-अंग में सौन्दर्य की रेखाएँ स्फुटित हो रही हों, जो गुणवती हो, शीलवती हो, चरित्रवती हो, यौवनवती हो, जिसका रूप नित्य नूतन रहता हो। बिहारी के शब्दों में—

लिखिन बैठि जाकी सबी, गहि गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर ॥
लहलहाति तन तरुनई, लगि लगि लों लफि जाय।
लगे लाँक लोयन भरि, लोयन न लेति लगाय ॥[3]

ऐसी नायिका का, अनेक भेद-प्रभेदों में अनेक रूपों में, कवियों ने चित्रण किया है। इसी सन्दर्भ में अब 'दयाराम सतसई' के अन्तर्गत उपलब्ध नायिका-भेद के रूपों का अवलोकन करें।

---

१. 'शुकसप्तति' : ५९वीं कथा।
२. 'रसप्रबोध : रसलीन, दोहा ७४।
३. 'बिहारी सतसई' : बिहारीलाल छन्द ३३७, ५३२।

(अ) लोकमर्यादा के अनुसार नायिका-भेद—

लोकमर्यादा के अनुसार नायिका के तीन प्रकार निश्चित किये गये हैं—स्वकीया, परकीया और सामान्य।

(१) अथ नायिका त्रिविधा स्वाऽन्या साधारणी स्त्रीति।[1]

(२) ता नायक की नायिका, ग्रंथनि तीनि बखान॥
स्वकीया परकीया अवर, सामान्या सु प्रमान॥[2]

१. स्वकीया—

इनमें स्वकीया सर्वप्रथम है। विनय, आर्जव से युक्त, गृहकार्य में चतुर पतिव्रता नारी स्वकीया कहलाती है। कृपाराम ने स्वकीया के लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा है।

ब्याहे सों अनुरागि के, रहे सदा जो नारि।
श्रुति आखर-सी अचल मति, स्वीया वहे विचारि॥[3]

दयाराम ने स्वकीया की तीन विशेषताएँ बतलाई हैं—१. वंशवृद्धि २. गृह की शोभा और ३. सहगमन। प्रथम दो तो सर्वकालीन और सार्वभौम हैं पर तीसरी विशेषता का अब बहुत महत्व नहीं रहा है।

वंशवृद्धि सोभासदन, करे सहगमन सोइ।
स्वकीया की यह तीन कृति, परकीया कबू न होइ॥[4]

स्वकीया में सहगमन बतलाकर दयाराम ने तत्कालीन समाज की सतीप्रथा का अनुमोदन किया है।

२. परकीया—

जो स्त्री गुप्त रूप से परपुरुषों से अनुराग करती है, उसे परकीया नायिका कहते हैं। यह गुप्त रीति से प्रीति करती है, इसलिए गुप्त प्रेम के सभी आकर्षक पहलुओं की इसमें संभावना होने के कारण इसकी रमणीयता 'बदरा ओट के चाँद' की सी बढ़ जाती है। परकीया के लक्षण रसलीन ने इस प्रकार प्रस्तुत किए हैं :—

निज दुति देह दिखाइ के, हरे और के प्रान।
नेह चहति निसिदिन रहे, सुन्दरि दीप समान॥[5]

परकीया के दो भेद होते हैं—ऊढ़ा और अनूढ़ा। अनूढ़ा वास्तव में पर-

---

१. 'साहित्य दर्पण' : विश्वनाथ, ३/६९।
२. 'रसिकप्रिया' : केशवदास, ३/१४।
३. 'हिततरंगिणी' : कृपाराम, २/६५।
४. 'दयाराम सतसई' : सं० डॉ० नागर, छन्द १६९।
५. रस प्रबोध : रसलीन, छन्द २१२।

कीया के क्षेत्र में नहीं आती। इसलिए हिन्दी में इसका केवल नामोल्लेख मात्र मिलता है। ऊढ़ा विवाहिता स्त्री होती है और परपुरुष को प्रेम करने के कारण परकीया कहलाती है। परकीया के सात भेद होते हैं---मुदिता, विदग्धा, अनुशयना, गुप्ता, लक्षिता, कुलटा और स्वयंदूतिका। दयाराम ने कुलटा और गुप्ता को छोड़कर शेष पाँच प्रकार की परकीया नायिकाओं के उदाहरण दिए हैं।

(आ) अवस्था-भेद से नायिका-भेद—

भरत मुनि ने नायिकाओं की आठ अवस्थाओं की अवधारणा करके आठ प्रकार की नायिकाओं का उल्लेख किया है। परवर्ती सभी विवेचकों ने भी ये ही आठ भेद स्वीकार किये हैं। परन्तु नन्ददास ने 'प्रीतगमनी' नाम से एक और भेद बढ़ाकर यह संख्या नौ कर दी है। अन्य विवेचकों के प्रवलय-प्रेयसी, आगतपतिका, आगमिष्यत्पतिका और आगच्छत्-पतिका आदि भेदों को जोड़कर विरहिणी नायिका की अनेक मनोदशाओं का चित्रण किया है। वास्तव में ये आठ नायिकाएँ मनोविज्ञान की दृष्टि से साहित्य में अनेक मर्मस्पर्शी भूमिकाएँ अदा करती हैं। कवियों की नवनवोन्मेषिनी प्रतिभा को इस क्षेत्र में संचरण का व्यापक अवसर मिला है।

१. प्रोषितभर्तृका—

नानाकार्यवशादस्या दूरदेशं गतः पति।
सा मनोभवदुःखार्ता भवेत प्रोषितभर्तृका ॥[१]
जाको प्रीतम दै अवधि, गयो कौन हू काज।
ताको प्रोषत प्रेयसी, कहि वर्णत कविराज ॥[२]

—जिसके प्रियतम किसी अवधि विशेष के लिए दूर की यात्रा पर या परदेश गए हों और उसके अभाव में जिसे रति-पीड़ा होती हो, वह नायिका प्रोषितभर्तृका कहलाती है। वास्तव में विरहानुभूति की सबसे प्रबल अभिव्यक्ति ऐसी ही नायिका के द्वारा होती आई है।

दयाराम ने कृष्ण के मथुरा जाने पर गोपियों की सामूहिक विरहानुभूति को व्यक्त किया है :—

बारी बारी बारियें, बारी लों दे बारि।
फिरि बारी दें बारि जलु, बारिद लों बनवारि ॥[३]

गोपियाँ कहती हैं कि 'हमें पहले तो प्रीति के जल ने खूब पाला और पोषा,

---

१. 'साहित्यदर्पण' : विश्वनाथ छन्द ३/६९

२. 'रसिकप्रिया' : केशवदास छन्द ७/१९।

३. 'दयाराम सतसई' : सं० डॉ० नागर, छन्द १५७।

अब बनवारी हमें छोड़कर मथुरा चले गए हैं और उनके अभाव में हम विरह की अग्नि में झुलस रही हैं।

प्रोषितपतिकाओं को गहने भी बुरे लगते हैं। मन तो प्रियतम की याद में खोया रहता है, गहनों की ओर कौन देखे? और फिर वहाँ किसी के फन्दे में पड़े होंगे तो—चिन्ता और ईर्ष्या की मिलीजुली भावना :—

नाक सुहाय न मुक्त मन, रह्यों लाल सों लागि।
प्रिय घनश्याम मिले न ह्वां, सों तिय सुख सब आगि ॥[1]

विरहिणी प्रियतम की प्रतीक्षा में है। इन्तजार करते-करते मन में निराशा फैल गई, छाती ठंडी पड़ने लगी और इतने में ही सखी के हाथ में प्रियतम का पत्र देखा। बिना पढ़े ही पत्र को पढ़ लिया। अतः ठंडी छाती पुनः धधकने लगी :—

बाँचि गई बांचे बिना, लखि सखिकर पिय पाति।
छुहि छाती ताती भई, सीरी जो धकि जात ॥[2]

नायिका विधाता से कहती है कि विधाता, यह दुःख कैसा दिया? प्रीति करवाकर प्रियतम छीन लिया। स्नेही दे दे या फिर स्नेह वापस ले ले :—

बिधना प्रीति कराय क्यों, प्रीतम लीनें छीन।
स्नेही दें कें स्नेह लें, यह काहे दुख दीन ॥[3]

नायिका प्रियतम के इन्तजार में है। प्रियतम नहीं आते हैं। उसे स्वयं पर खीझ चढ़ती है और वह निराश हो जाती है, प्राणों की निरर्थकता पहचानने लगती है तब उसकी वेदना इन शब्दों में सिमट जाती है :—

हे आशा द्रुत सफल हो, किधौं तूँ ह्वें जा नास ॥
जाय जीय मों दुख टरें, भाजें जग उपहास ॥[4]

प्रोषितपतिका में एक सर्वजनीन उदारता आ जाती है। वह किसी को दुखी नहीं देखता चाहती है। मृत्यु को भी वह आशीर्वाद मानती है :—

बीर बिरह दुःख अति दुःसह, जिन दें कों ज्युगदीस।
और कष्ट को का चली, मरण मन्यों आसीस ॥[5]

---

१. 'दयाराम सतसई' : सं० डॉ० नागर, छन्द २२७।
२. वही, छन्द २२८।
३. वही, छन्द २२९।
४. वही, छन्द २३१।
५. वही, छन्द २२४।

२. खण्डिता—

पार्श्वमेति प्रियो यस्या अन्यसंभोगचिह्नितः।
सा खण्डितेति कथिता धीरैरीर्ष्य-कषायिता ॥[1]
आवत कहि आवे नहीं, आवैं प्रीतम प्रात।
ताके घर खण्डिता कहे, सुबहु विधि बात ॥[2]

'दयाराम सतसई' में 'खण्डिता नायिका' के शीर्षक के अंतर्गत जो १७७वाँ दोहा है, खण्डिता का अच्छा उदाहरण नहीं है। १८१वें दोहे में खण्डिता का अच्छा चित्र प्रस्तुत किया गया है :—

सब ठां गुनिके संग तें पावें सब सनमान।
अगुनवती उर पें धरी, क्यों न होय अपमान ॥[3]

पति के वक्षस्थल पर अन्य नायिका की माला की सूत्रहीन, अंकित छाप को देखकर खण्डिता नायिका उसे पति के अपमान का कारण बनाती है।

खण्डिता के मुख से वक्रोक्तियों की तीक्ष्ण धारा वहती है। अपराधी प्रियतम को लज्जित करने का इससे प्रखर हथियार और हो भी क्या सकता है। देखिये दयाराम की एक खण्डिता को :—

झिल्ल भरे प्रति अंग पिय, झिल्ल सोंह कित खात।
निपत झिल्ल का मो गिनी, प्रकट दुरैयत बात ॥[4]

खण्डिता के धीरा, अधीरा और धीराधीरा के रूप में तीन भेद होते हैं। दयाराम ने इन तीनों के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।

३. कलहान्तरिता—

चाटुकारमपि प्राणनाथं रोषादपास्य या।
पश्चात्तापमवाप्नोति कलहान्तरिता हि सा ॥[5]
मान मनावत हू करे, मानद को अपमान।
दूनो दुख ता बिन लहैं, अभिसंधता बखानि ॥[6]
(केशव ने कलहान्तरिता को अभिसंधिता कहा है।)

नायक का अनादर करने के बाद स्वयं ही अपने व्यवहार पर पश्चात्ताप करने वाली नायिका कलहान्तरिता मानी जाती है। नायक के अनुनय-विनय

१. 'साहित्य दर्पण' : विश्वनाथ ३/८८।
२. 'रसिकप्रिया' : केशवदास ८/१६।
३. 'दयाराम सतसई' : सं० डॉ० नागर, छन्द १८१।
४. वही, छंद १८२।
५. 'साहित्य दर्पण' : विश्वनाथ ३/९४।
६. 'रसिकप्रिया' : केशवदास ७/१३।

करने पर भी कलहान्तरिता का रोष नहीं घटता है। परन्तु नायक के चले जाने पर वह पश्चात्ताप करती है। दयाराम की कलहान्तरिता कहती है—

हा हा कर हारे हरी, मैं न मनी परि पाय।
मो लायें अब लाय दें, को दें, लाय ललाय ॥[१]

४. उत्कण्ठिता—

आगंतुं कृत्चित्तोऽपि दैवान्नायाति यत्प्रियः।
तन्नामदुःखार्ता च विरहोत्कण्ठिता तु सा ॥[२]
कौन हुँ हेत न आइयो, प्रीतम जाके धाम।
ताको शोचित शोच हिय, केशव उत्का वाम ॥[३]

—जो नायिका नायक के आने की प्रतीक्षा में रहती है और किसी कारणवश इच्छा होते भी नायक नहीं आ पाता है तो वह उद्विग्न हो उठती है ऐसी स्त्री उत्कण्ठिता नायिका कहलाती है—

छांहि चांहि तन छांहि पिय, अब अति आवें नांहि।
फरकत मो अंखि दाहिनी, काहु कि बांई बांहि ॥[४]

५. अभिसारिका—

अभिसरति हि कांतं या मन्मथस्य-वशंगता।
स्वयमभिसरतीत्येषा धीरैरुक्ताभिसारिका ॥[५]
हित तें के मद मदन तें, पिय सों मिले जु थाइ।
सों कहिए अभिसारिका, बरणी त्रिविधि बनाइ ॥[६]

—जो नायिका काम-वासना से पीड़ित होकर स्वयं कान्त के पास जाती है या उसे अपने पास बुला लेती है, उसे अभिसारिका कहते हैं। दयाराम ने इसके तीन भेद माने हैं। इन तीनों के सुन्दर उदाहरण भी उन्होंने प्रस्तुत किये हैं।

१. कृष्णाभिसारिका

कृष्ण पक्ष की रात में जो प्रिय से मिलने जाती है, उसे कृष्णाभिसारिका कहते हैं। दयाराम की कृष्णाभिसारिका काली साड़ी पहनकर अमावस्या की अन्धेरी रात में अभिसार के लिए जाती है। लेकिन उसकी गौर-देह-द्युति बादल से ढँके चाँद की तरह बार-बार झलक उठती हैं:—

१. 'दयाराम सतसई' : सं० डॉ० नागर, छंद १८५।
२. 'साहित्य दर्पण' : विश्वनाथ ३/९८।
३. 'रसिकप्रिया' : केशवदास ७/७।
४. 'दयाराम सतसई' : सं० डॉ० नागर, छंद १८६।
५. 'साहित्य दर्पण' : विश्वनाथ ३/८९।
६. 'रसिक-प्रिया' केशवदास ७/२५।

कारी कारी कुहु छपा, छुपत जात द्रुम ओट।
दुरि न रहे द्युति देह तहु, ज्यों ससि बदरा ओट ।।[१]

२. ज्योत्स्नाभिसारिका—

चाँदनी रात में अभिसरण करने वाली नायिका ज्योत्स्नाभिसारिका (शुक्लाभिसारिका) कहलाती है। बिहारी की ज्योत्स्नाभिसारिका तो केवल चाँदनी रात में भौंरों के द्वारा ही जानी जाती है! दयाराम की नायिका तो चाँदनी रात में सीप का मोती बन गई है :—

चमकी चहुँ दिस चाँदनी, गौरी धरि सित वास।
मुक्त सुक्ति लों मलि चली, कुंज सदन पिउ पास ।।[२]

३. दिवाभिसारिका—

दिन में जो अभिसरण करती है, उसे दिवाभिसारिका कहते हैं—

अर्जुनबरन जराम्बर, कनक लता सों अंग।
अभिजित वय आभिरसुता, मिलन चली श्रीरंग ।।[३]

६. वासकसज्जा—

जब नायिका साज-शृंगार करके प्रिय की प्रतीक्षा में रत रहती है, तब वह वासकसज्जा कहलाती है। दयाराम ने इसका एक उदाहरण दिया है, जो बहुत अच्छा नहीं है :—

मलिन नलिन हिय तल्प भों, तल्प माल कुमलाय।
साज आज बिन काज मो, अजहुँ न आये आप ।।[४]

७. विप्रलब्धा—

प्रिय कृत्वापि संकेतः यस्या नायाति सन्निधिम्।
विप्रलब्धा तु सा ज्ञेया नितान्तमवमानिता ।।[५]
दूती सो संकेत बढ़ि, लेन पठाई आप।
विप्रलब्ध सो जानिए, अन खाये सन्ताप ।।[६]

संकेत करने पर भी नायक जिसके समीप नहीं आता है, उस अपमानिता नायिका को विप्रलब्धा कहते हैं। यह बड़ी नाजुक स्थिति में पड़ी नायिका

१. 'दयाराम सतसई' : सं० डॉ० नागर, छंद १६० !
२. वही, छंद १६१।
३. वही, छंद १६३।
४. वही, छंद १६८।
५. 'साहित्य दर्पण', विश्वनाथ, ३/६५।
६. 'रसिकप्रिया' : केशवदास, ७/२२।

होती है । प्रिय आने वाले हैं । संकेत-स्थल पर पहुँच गई । परन्तु प्रियतम को वहाँ न देखकर रंग पीला पड़ गया :—

लखें न लाल सहेट गें ललना लाल अनूप ।
भों तनु रंग अनंग डर, जातरूप को रूप ॥[१]

८. स्वाधीनपतिका—

कान्तो रतिगुणाकृष्टो न जहाति यदन्तिकम् ।
विचित्र विभ्रमासक्ता सा स्यात् स्वाधीनभर्तृका ॥[२]
मन वच कृत करिकें सदा, पीव जासु बस होइ ।
पूरन रसमय निरखिये, स्वाधिनपतिका सोइ ॥[३]

जिस नायिका का प्रिय सर्वदा उसके समीप रहता है और हमेशा उसकी अधीनता स्वीकार करता है, वह नायिका स्वाधीनपतिका कहलाती है ।

अलि भलि बति पतिया पती, बोलन दूजे जांहि ।
सो का आगें ओंध पियु, आपे आवें नांहि ॥[४]

९. प्रवत्स्यत्पतिका—

जिस नायिका के पति शीघ्र ही परदेश जाने वाले हों, उसे प्रवत्स्यत्-पतिका नायिका कहते हैं—

पिय विदेश जाओ चहे, तजि सुबाल तिहि काल ।
गहें सोच उर सुन्दरी, प्रवसतपतिका हाल ॥[५]
कलकि न कल पलकां पल, पलक अलि क्षति मेरि ।
प्रान प्रान कल जात मो, प्रान जात नहिं देरि ॥[६]

प्रिय विदेश जा रहे हैं । नायिका उद्विग्न है । पलंग पर पलभर के लिए भी पलकें नहीं लग रही हैं ।

१०. आगमपतिका—

जिस नायिका के पति विदेश से आ रहे हों या आ गये हों, उसे आगत-पतिका या आगमपतिका कहते हैं ।

---

१. 'दयाराम सतसई' : सं० डॉ० नागर, छन्द १९९ ।
२. 'साहित्य दर्पण' : विश्वनाथ ३/८७ ।
३. 'हिततरंगिणी' : कृपाराम, छन्द ३२० ।
४. 'दयाराम सतसई' : सं० डॉ० नागर, छन्द १९५ ।
५. 'हिततरंगिणी' : कृपाराम ५/३६३ ।
६. 'दयाराम सतसई' : सं० डॉ० नागर, छन्द २०१ ।

जाको पति परदेस तें, आवे जा छिन धाम ।
कृपाराम स्वागतप्रिया, होति वहै अभिराम ॥[१]

प्रिय का पत्र आया है । प्रिय अब आने वाले हैं । यह शकुन तो पहले ही कौए ने दे दिया था । इसलिए 'कागद' अब कोई 'गद' (दवा) नहीं है । अब तो प्रियतम के स्पर्श के लिए अंग-अंग उफना जा रहा है :—

कागद का गद राधिका, काग दए जो सोंन ।
सरकत सरकें कंचुकी, परसन कों पियपांन ॥[२]

× × ×

पियु पधारे सुनत पिय, सवें उठी सह नेम ।
वैठे मन निज निलय तन, मनि मंडन जुत हेम ॥[३]

(इ) दशा के अनुसार नायिका-भेद—

इस वर्ग के अन्तर्गत नायिकाओं के तीन वर्ग माने जाते हैं—१. अन्य-संभोग-दुखिता, २. गर्विता और ३. मानवती । 'दयाराम सतसई' में मानवती नायिका को विशेष महत्व दिया गया है ।

मानवती

मान करने वाली नायिका मानवती कहलाती है—

पिय सों कछु अपराध तकि, तिय उदास जो होइ ।
ताहि मानिनी कहत हैं, सब पण्डित कवि लोइ ॥[४]

मान स्त्रियों का सबसे बड़ा हथियार है । प्रियतम के अपराध या अपनी अवहेलना से स्त्री में जो खीझ पैदा होती है, वह मान है । मान रोप या क्रोध से अलग है । मान बाहरी दिखावा है, जो प्रीति की इमारत को पुरानी नहीं होने देता है । मान का मोचन संगम की ओर ले जाता है । मानवती नायिका दो मनःस्थितियों से गुजरती है—१. प्रेम २. अमर्ष ।

दयाराम ने विरह की भाँति मान का भी विशद चित्रण किया है । वे मान को 'मिसरी' मानते हैं, जो देखने में कठोर है किंतु चखने पर पिघलने वाली मधुरता से पूर्ण होती है :—

मिसरी मांन समान, परसत दरस कठोर कछु ।
पें रस रूपहिं जान, बदन समुझ के डारियें ॥[५]

---

१. 'हिततरंगिणी' : कृपाराम ५/३६४ ।
२. 'दयाराम सतसई' : सं० डॉ० नागर, छंद २०२ ।
३. वही, छन्द २०३ ।
४. 'रसप्रबोध' : रसलीन, छन्द ३५१ ।
५. 'दयाराम सतसई' : सं० डॉ० अम्बाशंकर नागर, छन्द २२१ ।

नायिका मान किये बैठी है। मुँह फुलाये है। सखि उससे कहती है—देखो, पति पैरों पर नतमस्तक है। मान जाओ, मौन छोड़ो—

मांन तजें जिन मौन तज, मान इतो वच मोर।
भेट करी लखि ललन प्रिय, मोसंख पद तोर ।।[1]

हे सयानी, समझ, हृदय में तू है, तेरा ही नाम रटा जा रहा है। उनके नेत्रों से आँसुओं की धारा बह रही है। मान छोड़ दे—

राधे छब पिय हिये में, आनन हैं तुव नाम।
सोई उलट दृगतें चलें, समुझ सयानी वाम ।।[2]

तू ही उलटी होकर धारा (राधा) के रूप में आँखों से प्रकट हो रही है।

मान है, परन्तु प्रियतम का अप्रिय हो रहा हो तो मान की क्या जरूरत? मानिनी मौन है। गुस्से के कारण नाक से नथ निकाल दी। प्रियतम ने हजार अनुनय-विनय की, मानिनी टस-से-मस नहीं होती। परन्तु प्रिय को छींक आई। मानिनी को लगा कि कहीं दुश्मनों की तबीयत नासाज तो नहीं है? तुरन्त नथ पहन ली। पति की कुशलता गुस्से से पहले :—

मान न एंहू न टर्‌यों, का मन प्रीति बिसारि।
केंतव छिक्का खाइ पिय, द्रुत नथ पहरी प्यारि ।।[3]

सखी मानिनी को समझाती है कि मान ज्यादा नहीं रखना चाहिए। मान पान नहीं है, जो ज्यों-ज्यों पकेगा त्यों-त्यों रस बढ़ेगा :—

एरी देरी मति करै, मेरी कहि तूं मांन।
कहा पकें रस बढ़ेंगों, मान आहि कछु पान ।।[4]

मानिनी मान किए बैठी है। सखी आती है और कहती है, 'चलो', मानिनी—'कहाँ ?' सखी—वे बुलाते हैं।' मानिनी—क्यों ?' सखी—तुम्हारे बिना उन्हें चैन कहाँ ?' मानिनी—'उनकी तो अनेक हैं।' सखी—'पर उनमें रुचि नहीं।' मानिनी—'पर मुकुट पर इतनी सारी मौजूद हैं।' सखी—'राधे, ये तो तुम्हारी परछाइयां हैं, छाया हैं—तुम न मिलीं तो तुम्हारी छाया ही रख ली :—

चलि, कहाँ ? बोले, कौन ? पिय, क्यों ? तो बिन कल नांहि।
घनि हें, रुचि नहि, मौलि राखि, राधे वे तुव छांहि ।।[5]

---

१. 'दयाराम सतसई' : सं० डॉ० अम्बाशंकर नागर, छन्द २१०।

२. वही, छंद २१२।

३. वही, छंद २११।

४. वही, छंद २१६।

५. वही, छन्द २१७।

मान और उसका निराकरण दोनों ही कलाकार दयाराम की तूलिका से मूर्तिमान हो उठे हैं।

मान की विशेषता ही यह है कि वह अधिक नहीं ठहरता। कितना ही बड़ा मान हो, प्रिय की एक झलक से वह उड़ जाता है :—

तदपि लाल सों लग्न, जद्यपि मन नपुसंक।
क्यों न मान हुइ भग्न, वे नटवर हों कामिनी।।

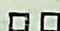
× × ×

मान अधीन अति रसिक, सबसों रसिकेस मिल्यों जु।
गर्व भरी इक हों रही, मेरों कछु न चल्यों जु।।[1]

दयाराम ने नायिका-भेद का बहुत विस्तार नहीं किया है। साहित्यिक छटा के अनुकूल नायिकाओं की विभिन्न स्थितियों का चित्रण ही उन्होंने किया है। विरहिणी, मानवती और परकीया के चित्रण में उनका मन खूब रमा है। अवस्थानुसार आठ नायिकाओं के स्थान पर उन्होंने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा स्वीकृत दो भेद और जोड़कर-दस प्रकार की नायिकाओं का वर्णन किया है। कला की दृष्टि से दयाराम का नायिका-भेद हृद्य और सुरुचिपूर्ण है। मनः-स्थितियों के चित्रण में वे पूर्णतः सफल हुए हैं। दुविधा भरी परकीया की एक झलक देखिए :—

ठारे अंगन लाल मो, मन डरपे ललचाय।
आजे एकम लों न कछु, आउ जाउ कहि जाय।।[2]

'डरपे', 'ललचाय', 'आउ', जाउ', दुविधा के सूचक हैं। गोपिका घर में हैं। कृष्ण आँगन में खड़े हैं। अन्य लोग भी हैं। कुछ कहने के लिए मन ललचाता है, कुछ कहने से डरती भी है। वह न 'आओ' कह सकती है न 'जाओ' कह सकती है। कालिदास की पार्वती की तरह—शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ।[3]



१. 'दयाराम सतसई' : सं० डॉ० अम्बाशंकर नागर, छंद २२०, २१९।

२. वही, छन्द २४८।

३. कुमारसंभव, पाँचवाँ सर्ग।

१०. नीति-काव्य

प्राचीन और मध्यकालीन काव्य में सूक्तियों का अपना विशेष महत्व रहा है। इनके कुछ विषय भी रूढ़ हो गए थे। डा० नागरजी के शब्दों में कहें तो—'सूक्तियों के कुछ विषय रूढ़ हो चले थे, जिन पर प्रायः सभी कवि अपनी अपनी सूझ-बूझ के अनुसार कहते चलते थे।'[1] भर्तृहरि, अमरुक, रहीम, तुलसी, बिहारी, मतिराम और वृन्द आदि कवियों ने अपने अनुभवों को अपनी अपनी सूझ-बूझ के अनुसार प्रकट किया है। आज भी इनकी सूक्तियाँ लोक-व्यवहार में बारम्बार उच्चरित होती हैं। दयाराम भी इसी परम्परा में आते हैं। उनका यायावरीय जीवन अनेक अनुभवों से जुड़ा था। कथा-वाचक और निपुण गायक होने के कारण जीवन के अनुभवों को व्यक्त करने का मौका भी उन्हें अधिक ही मिला होगा। इन सबका संचय सतसई में हुआ है।

रहीम के नीतिपरक दोहे तो अनुभव की आँच पर तपे हैं। दयाराम के अनुभव भी यथार्थ की आँच पर पके प्रतीत होते हैं। इसमें पारम्परिकता होते हुए भी तत्कालीन जीवन की अनेक सच्चाइयों को बिना लाग-लपेट कहने का प्रयत्न किया गया है। इनमें न तो आडम्बर का आच्छादन है और न आग्रह की भूमिका ही। जो जैसा है उसे वैसा ही प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

दयाराम कहते हैं कि शास्त्र और परम्परा के अनुसार 'जो जैसा करेगा वैसा भरेगा' का विधान सत्य नहीं है क्योंकि दुष्ट फूलते-फलते रहते हैं और साधु उजड़ते रहते हैं। वकासुर को सुगति मिली जबकि उसने श्रीकृष्ण को जहर दिया था।

दें सो पावे वेद वच, पें क्यों कहियें सत्य।
बकि माधो माहुर दयों, कस पाई सुभ गत्य ॥[1]
ब्रह्म कहें भगवंत हू दें फल भाव-प्रमान।
हरिये सर ब्याध दें लह्यो सतन सुरथान ॥[2]

वड़े आदमी उपदेश देते हैं। उनकी 'कथनी' का विश्वास करो, उनकी 'करनी' का अनुकरण न करो—

---

१. दयाराम सतसई, भूमिका, पृ० ५३।

२. वही, दो० ४८१-८२।

करबि खरी बड़वै खरी, करनी करनि न सन्त।
रषभ बानि मानि श्रे लह्यों, अशिव कृति अरिहंत ॥[1]

भगवान् ऋषभ की वाणी का जिन्होंने अनुकरण किया उन्हें श्रेय मिला, परन्तु अरिहंत ने उनकी कथनी को छोड़कर 'करनी' का अनुसरण किया उसे अमंगल का शिकार होना पड़ा।

देखिए कार्यकारण का नियम अटूट माना जाता है। यह भी सत्य नहीं है। दयाराम कहते हैं—पिता कारण है पुत्र कार्य है। परन्तु पिता के समान पुत्र नहीं होता है। नम्र उग्रसेन से क्रूर कंस हुआ और बेलगाम वेन से प्रजा-वत्सल पृथु हुआ। जहरीले सांप में ज्योतिपुंज मणि रहती है और प्रकाशधर्मा दीपक से काजल पैदा होता है—

कारन से कारज न किल पुत्र हु सब पितु से न।
मनि अहि सों कित दीप मिस उग्र कंस प्रथु बेन ॥[2]

संसार में श्रम का महत्व है। कार्यशीलता ही अक्षय पूँजी है। जिसे चलाना आता है उसकी तलवार होती है, जो पालता है उसका धर्म होता है, जो पढ़ता है उसकी विद्या होती है और जो पूजा करता है उसका भगवान होता है—

जिन मार्यो ताको असि, पायों ताको ध्रह्म।
ताकी विद्या जिन पढ़ी भजें वाहि कें ब्रह्म ॥[3]

ऋण या कर्ज समाज की बड़ी समस्या है। कर्ज का घाव नासूर बन जाता है। दयाराम कहते हैं कि कर्ज का घाव तो सिंह पंजे से किये गए घाव से अधिक दुःखदायक होता है। सिंह के पंजे का घाव एक बार ही पीड़ा देकर ठीक हो जाता है, कर्ज का पंजा तो फैलता ही रहता है—

वेसों करज निहारि दुख, जेसो करज नहार।
पं कछु भल वह रटत द्रुत, यह न हार विस्तार ॥[4]

कर्ज की मार बड़ी पैनी होती है। शायलॉक हर जगह होते हैं।

उत्तम, मध्यम और अधम पुरुषों की कृपा और क्रोध लोम-प्रतिलोम से रेशम, सूत और रजाई की गाँठों के समान होते हैं। उत्तम जन की कृपा रेशम की गाँठ की तरह होती है जो एक बार पड़ गई तो मुश्किल से खुलती हैं। मध्यम पुरुष की कृपा सूत की गाँठ की तरह होती है जो समय आने पर खुल

---

१. दयाराम सतसई, दो० ३८१।

२. वही, दो० ६४५।

३. वही, दोहा ५०३।

४. वही, दोहा ६८१।

सकती है। अधम पुरुषों की कृपा तो रजाई की गाँठ है, जरा-सी ढील दी नहीं कि अलग-अलग हो जाती है। इसी तरह उल्टे क्रम से इन तीनों का क्रोध भी है। उत्तम की रीस रजाई की गाँठ, मध्यम की सूत की गाँठ और अधम की रेशम की गाँठ के समान होती हैं।

उत्तम मध्यम अधम की कृपा रीस अस भाई।
गांठि लोभ प्रतिलोम जिमि पाट, दुकूल, रजाइ ।।[1]

संतों के क्रिया-कलापों पर ध्यान नहीं देना चाहिये। उनके रसभोग पर शंका नहीं करनी चाहिए। उनका स्तर सामान्य जन से अलग होता है। वे सब रसों का आस्वाद लेते हुए भी उनके प्रभाव से अलिप्त रहते हैं। देखिए जीभ जठराग्नि के प्रभाव से निर्लिप्त रहती है, जठराग्नि सबको पचा देती है।

सब रस भोगे संत कबू, तहू रहे निष्पाप ।।
स्निग्ध पगी रसना जिमि, अलेप अगन परताप ।।[2]

बड़े जो कुछ करते हैं सोच-समझकर ही करते हैं। इसलिये उनके कार्यों के प्रति शंका नहीं करनी चाहिये। ब्रह्मा का मन बेटी पर आया तो उसका भी कुछ तो कारण होगा ही—

बड़े करें सब समुझि के भूले नहिं को ठोर।
विधि बेटी पे चित्त धर्यो नहिं कछु कारन ओर ।।[3]

जीवन में विवेक का बड़ा महत्व है। विवेकहीन कर्म निष्फल होते हैं। खर्च भी करना हो तो विवेक से करना चाहिए। वंशी में केवल फूंक मारकर ही संगीत पैदा नहीं होता है उसमें अंगुलियों का शिल्प भी आवश्यक है—

विन विवेक वसु व्यय कियें, शोभा कोउ न पाय।
फूंकी वंसुरी रस न ज्यों, अंगुरी विना लगाय ।।[4]

दयाराम कहते हैं प्रीति जोड़नी चाहिए परन्तु इसमें प्रकृति का भी ध्यान रखना चाहिए। प्रकृति के मिले बिना जो प्रीति जुड़ती है वह द्विधा पैदा करती है जैसे रोटी और गंडेरी एक साथ खाने में क्या थूका जाय और क्या निगला जाय इसकी दुविधा पैदा हो जाती है—

प्रीति जुरि प्रकृति न मिली, वह दुहु पख दुख पाय।
रोटी गंडेरी चबी, क्यों डारे क्यों खाय ।।[5]

---

१. दयाराम सतसई, दोहा ५४२।
२, वही, दोहा ६०८।
३. वही, ३७८।
४. वही, ३९६।
५. वही, दोहा ६४२।

ना कहना बड़ा कठिन होता है। 'ना' कहने से तुरन्त कटुता आ जाती है। लोग बुरा मान जाते हैं परन्तु दयाराम 'ना' कहने के पक्षपाती हैं। वे समझते हैं कि न कहने में तुरन्त बुराई अवश्य है। परन्तु जिस 'ना' का परिणाम भला हो उसको कहने में संकोच नहीं करना चाहिए—'कंठ कटे पर कटु ना कहे' यह सयानी रीत नहीं है।'

तनक बुराई तुरत भल, जामें अति परिनाम।
कंठ कटे कटु ना कहे, सो न सयानी काम ॥[1]

कथनी से करनी वरेण्य है। कबीर भी करनी के पक्षपाती थे। कोरी कथनी में विश्वास नहीं करते हैं। कथनी से कुछ सधता नहीं है जैसे 'लाख बार अंगार' लिखने से आग पैदा नहीं होती है—

कथनी कोरी न काम की, करनी रंच हु सार।
उड़े न दारु डारियें, लिखि लखमन अंगार ॥[2]

अहं अहमिका उचित नहीं है। गुप्तरूप से कार्य करने में प्रभावी बना जा सकता है। गधा 'हों-हों' (अहं अहं) करता है इसलिये उस पर बोझ लादा जाता है। मैन (कामदेव) 'मैं-न मैं-न' (अहंता-त्याग) कहकर प्रभावशाली बन जाता है। नरनारी उसके अधीन हो जाते हैं—

हों हों हों रासभ करें, बोज ढोय लहि प्रहार।
में न नाम ही मात्र सब, स्मर बस संसार ॥[3]

किसी को समझाने के लिये उदाहरण या दृष्टान्त बड़ी उपयोगी चीज है कथावाचक या लोकगायक उदाहरणों के द्वारा अपनी बात मनवाने में समर्थ होते हैं। दयाराम कहते हैं—उदाहरण तो उपनेत्र हैं जिससे वृद्धों को भी स्पष्ट दिखाई देता है। चश्मा छोटी से छोटी वस्तु नयन-गोचर बनाता है। उदाहरण से बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

कछु मति कूट सिद्धान्त यों दे द्रष्टान्त बताय।
अनु अक्षर उपनयन जिमि दे फुट वृद्ध दिखाय ॥[4]

संसार में हर वस्तु का अपना-अपना वातावरण होता है। सजातीय वस्तुएं कठिनाई होने पर भी एक साथ रह सकती हैं। बिजातीय वस्तुओं का उनमें समावेश नहीं हो सकता है। तूणीर में यदि वह सम्पूर्ण भरा हो तो भी एक-दो

---

१. दयाराम सतसई, दोहा ४५६।
२. वही, दोहा ५८५।
३. वही, दोहा ४३६।
४. वही, दोहा ४६५।

तीर उसमें घुसाए जा सकते हैं परन्तु जगह होने पर भी धनुष का समावेश वहाँ नहीं हो सकता है—

मिलि सजाती द्वै सजाती, एक बिजाति न बास।
सभर तून सर ओंर द्वैं, सकल धनुष न समाय ॥[१]

काम पड़ने पर ही सबका स्वरूप ज्ञात होता है, वाणी से ही सबका मूल्य आँका जाता है। वाणी के द्वारा ही राजा, अधिकारी और गुलाम की पहचान होती है—

काम परें ते सबन को, जान्यो जाय स्वरूप।
मोल बोल कृति तें मिलें, रंक पोच बड़ भूप ॥[२]

पेट बड़ी बला होती है। सब अंगों से इसकी मार बड़ी होती है। पेट के ही कारण सब कुछ करना पड़ता है। दयाराम पेट की लाचारी को पहचानते थे—

नाथ उदर नाहक दियों, भल कर पद श्रुति वाक्।
एक याहि लगि जात सब, धर्म, तेज, बल, नाक ॥[३]

हाथ, पैर, कान और वाणी तो अपनी-अपनी जगह ठीक हैं। परन्तु एक पेट के ही कारण धर्म, तेज, बल और प्रतिष्ठा जाती रहती है। पेट के ही कारण भूख लगती है और भूखा आदमी गजब ढा देता है। 'बुभुक्षितः किं न करोति पापं।' जो आदमी बरछे भाले और तलवारों के सामने गर्दन नहीं झुकाते हैं वे करछी की मार के सामने आत्मसमर्पण कर देते हैं। भीष्म जैसे महावीर भी करछी के सामने झुक जाते हैं—

जो न बरछी तरछी डरें मरें सु करछी मार।
देखों बड़ भड़ भीसम से, कौरों किय बस आहार ॥[४]

विरह भी बड़ा विचित्र होता है। अन्य रोग उपचार करने पर शांत हो जाते हैं। विरह तो तप्त तेल के समान है, ठंडा करने के लिए शीतल जल के छींटे मारो तो आग धधक उठती है। विरह भी उपचार करने पर बढ़ता ही रहता है—

विरहानल उपचारतें बड़े अनोखी चाल।
पय परसत ज्यों उठत बड़ तप्त तैल ते ज्वाल ॥[५]

---

२. दयाराम सतसई, दोहा ५६३।
३. वही, दोहा ५८४।
४. वही, दोहा ५१४।
१. वही, दोहा ६६३।
२. वही, दोहा ५७६।

लक्ष्मी और सरस्वती एक साथ नहीं रहती हैं। जहाँ धन वहाँ बुद्धि के लिए मैदान खाली नहीं रहता है, और जहाँ बुद्धि का विलास फैला रहता है वहाँ धन का प्रसार अटक जाता है। बुद्धि से धन नहीं मिलता है और बुद्धि धन से नहीं पाई जाती है। धनी हमेशा जड़ रहता है और दरिद्री में संवेदनशीलता की मात्रा अधिक ही रहती है—

बुद्धि मिलें न दाम तें, बुद्धि तें मिलें न दाम।
नांतर धनि जड़ क्यों रहें दरिद्री धी-धाम ॥[1]

दयाराम कहते हैं—ग्रहबल का महत्व प्रतिपादन करने वाले अज्ञानी हैं। यदि ग्रहबल होता तो रावण के हाथों नवग्रह पराजित क्यों होते ? अतः संसार में जो कुछ होता है वह हरि की इच्छा से होता है ग्रहों के बल से या अन्य बल से कुछ नहीं होता है।

जो कहि ग्रह कों सुख दुखद में कहुँ वाहि अयान।
रावन बाँधे नोन कूँ, बिन रुझदायक कांन ॥[2]

पाप कर्म अच्छा नहीं है क्योंकि एक पाप अन्य पापों की शृङ्खला की ओर ले जाता है। इसी से पाप बढ़ते जाते हैं, संताप बढ़ता जाता है—

जानि पाप करियें न कबु पाप ताप दें ल्याय।
तासं पाप फिरि ताप यह संखल तूट न पाय ॥[3]

नारी सदैव पुरुष के लिये एक पहेली रही है। सन्तों ने उसे 'नरक की खान' बताया है। भर्तृहरि ने नारी की रहस्यमयता को देवों के लिये भी अगम्य बताया है—स्त्रियः चरित्रं पुरुषस्य भाग्यं दैवो न जानाति कुतो मनुष्यः।' दयाराम उसे क्षोभकारक समझते हैं। नारी बिना विचारे काम करती है। छल कपट, निर्दयता, असत्य, अपवित्रता, जड़ता उसके स्वभाव से जुड़े हुए होते हैं—इसीलिए उसका संग क्षोभकारक है।

सहसा, माया, निर्दया, असुचि, अनृत, जड़ लोभ।
इते दोष तिय स्वाभाविक क्यों न संग तस क्षोभ ॥[4]

हृदय के भाव भी समय के साथ बदलते रहते हैं। जो भाव किसी समय सुख देते थे वे अब दुख देते हैं ! औषधि भी अनुपान-भेद से बदलती रहती है। औषधि और भाव भी परिवेष के साथ प्रभाव बदलते रहते हैं—

---

१. दयाराम सतसई, छंद ६०१।
२. वही, छंद ५८७।
३. वही, छंद ५९२।
४. वही, छंद ४२०।

सोखद सो सो खद भये, यह दिन बिन न प्रभाव।
ओंर ओंर अनुपान तें, भेषज ज्यों हिय भाव ॥[1]

पराक्रम बड़ा होता है, शरीर का कद नहीं। देखिए छोटे शरीर वाला पर पराक्रमी सिंह दीर्घदेही हाथी को मार डालता है—

बड़ो वीर्य बिग्रह नहीं, कुरु कोविद अनुमान।
दीर्घ देह सपतें करी, हरि लेत पल प्रान ॥[2]

अधर्म का पक्ष लेना उचित नहीं है। इससे तुच्छता ही प्रकट होती है। चाँदनी को जबरदस्ती से धूप कहा जाय तो वह धूप तो नहीं बन सकती है। केवल कहने वाला ही झूठा साबित होता है—

धरम पच्छ नहि कीजियें, तुच्छ दिखें निज रूप।[3]
बरबट कहि को कोमुदी, धूप सु ठरे न धूप ॥

प्रियजनों का साथ दो ही देते हैं—एक पाती दूसरी दूती। पाती दूती से अधिक विश्वस्त होती है। पाती बात गुप्त रखती है, सच्ची होती है, अमानी होती है, गंभीर होती है और सहज में ही हित की अनेक बातें करती है।

दुति न दुतिय को पाति सी, छानि बाति कहि मीत।
साँची, अमही, गम्भीर अति, सहज करें बहु हीत ॥[4]

दूती पाती से उत्कृष्ट है। दूती हमेशा सत्य नहीं कहती है। पूछो अमरुक शतक की दूती को जो नायिका द्वारा 'प्रिय' के पास भेजी गई थी, परन्तु आने पर उसने कहा, मैं तो 'वापी' नहाकर आई हूँ, 'प्रिय' के पास गई नहीं।* पाती हमेशा सच कहती है। दूती में अभिमान होता है, पाती अभिमान से दूर रहती है। दूती चंचल होती है, पाती गंभीर। दूती पुरस्कार चाहती है, पाती बदले में कुछ नहीं लेती।

शुभ कामना तप से बड़ी चीज है। वसुदेव और देवकी ने संतान-प्राप्ति के लिए बड़ा तप किया था। उन्हें पुत्र रूप में कृष्ण मिला ? परन्तु नन्द-यशोदा को तो केवल शुभ-कामना-आशीर्वाद से ही पुत्र-सुख का लाभ मिला—

---

१. दयाराम सतसई, छंद ४०१।
२. वही, छंद ३६४।
३. वही, छंद ५८४।
४. वही, छन्द ५८८।

* निश्शेषश्च्युत चन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो।
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ॥
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीड़ागमे।
वापीं स्नातुमितो गताऽसि न पुनस्तस्याऽधमस्यान्तिकम् ॥

बड़ असीस बड़ तपहुँ ते, करि लेहू अनुमान।
जननि जनक जुग कृष्ण के, तारतम्य सुखदान ॥[1]

सुख का समय व्यतीत होने पर देर नहीं लगती है। परन्तु दुःख का समय पर्वत की तरह लम्बा चौड़ा लगता है। कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष दोनों की अवधि समान होने पर भी शुक्ल पक्ष समाप्त होते देर नहीं लगती है और कृष्ण पक्ष लम्बा मालूम पड़ता है। सुख में समय की गति तेज लगती है, दुःख में समय के पैर लोहे के लगते हैं।

दुखद लगें सुख समय अति, त्यों दुख उलट प्रमान।
जानि परें नहि अमल पछ, लागे समल महान ॥[2]

किसी भी काम में अति नहीं करनी चाहिए। अति घर्षण से शीतल चन्दन भी अग्निकणों को पैदा कर देता है—

दियें बोंत सन्ताप कबु, साँत हू कूं होइ रोस।
अति घरसन ते होत जिमि, चन्दन चिनगिन दोस ॥[3]

झूठ बोलने में खतरा रहता है और साँच को आँच नहीं आती है। झूठ सच के बीच का अन्तर दिखाई देता है जैसे काँच और मणि के बीच का—

जोखिम जूठ सदा बनी, नही साँच कबु आँच।[4]
तुरत दिखें कछु अन्त तहु, मनि-मनि कांच सुकांच ॥

कीमत गुणवान की होती है, रूपवान की नहीं। खूबसूरत रक्तिम इन्द्रायण की कोई कीमत नहीं करता है, काली कस्तूरी लाखों के मोल बिकती है—

रूपवन्त तहू गुनरहित, तज भज गुनि बिन रूप।
इन्द्र बायना अरुन का, म्रगमद असित अनूप ॥[5]

नीति-शास्त्रों में कहा गया है कि 'मीत का मीत' मित्र होता है परन्तु जगत् में कुछ ऐसी विचित्र स्थिति है कि मीत का मीत भी शत्रु हो जाता है। देखिए—

मीत मीत सहजहि अरी, अरि अरि सहज हि मीत।
बाली बैर सुग्रीव कां, कवि मयंक कहा हीत ॥[6]

१. दयाराम सतसई, छन्द ५८३।
२. वही, छन्द ५८३।
३. वही, ३३६।
४. वही, ५८२।
५. वही, ५७७।
६. वही, ५१५।

बाली सुग्रीव की पत्नी रूमा का मित्र था इसलिए सुग्रीव से बाली की शत्रुता थी। चन्द्रमा ने देवगुरु बृहस्पति की पत्नी तारा से प्रेम किया था। बृहस्पति का वैर शुक्राचार्य से था अतः चन्द्रमा शुक्राचार्य का मित्र बन गया।

संसार में सभी वस्तुओं का अपना-अपना अलग महत्व होता है। छोटी वस्तु भी अपनी जगह महत्वपूर्ण है—

ऊँच अबच बड़ छोट कृति, बनि तासों अनु ओंर।
मौली, पनही, असि, धुरी भलें सबें निज ठोंर ॥[1]

इस प्रकार दयाराम का अनुभव का क्षेत्र विशाल है। उनकी सूक्तियाँ जीवन के प्रत्येक पहलू को छूती हैं। दयाराम की निरीक्षण शक्ति बड़ी पैनी और गहरी है। सामान्यतया सूक्तियों के विषय परम्परागत ही होते हैं। परन्तु इन परम्परागत अभिव्यक्तियों की जगह उन्होंने नये ढंग से अपनी बातें सामने रखी हैं। सन्त परोपकारी होते हैं, उनका हृदय मुलायम होता है। परन्तु दयाराम एक मार्मिक बात कह देते हैं।

नोंनित ते हूँ म्हा मृदु, सदा सन्त को ऊर।
वे पिघरत पावक परस, ये सुनि पर दुःख दूर ॥

नवनीत को मृदुतम, मसृणतम कहा जाता है लेकिन उसे पिघलाने के लिए पावक की आवश्यकता मानी जाती है। सन्त का हृदय तो दूसरे की कातरवाणी के श्रवणमात्र से द्रवीभूत हो उठता है। सन्त के हृदय की कोमलता को काव्यलिंग के द्वारा प्रतिपादित किया गया है।

होनहार का अन्दाज पहले से ही लग जाता है। देखिए मोर के बच्चों को। नर मोर को अपने बर्हभार पर गौरव रहता है। इसी से छोटे नर बच्चे चाहे उनके पंख आये हों या नहीं, पानी से गुजरते समय अपनी पूँछ को देखते रहते हैं कि कहीं उनकी पूँछ गीली न हो गई हो। कन्याएँ भी, चाहे उरोज प्रकट हुए हों या नहीं, पुरुषों को देखते ही पहले से छाती छिपाना सीख जाती हैं—

होनहार हिय में बसे, चितउ बरही के वत्स।
अलत अंबु प्रतिपल लखत, प्रष्ट जदपि नहीं पत्स ॥
होनहार हुई सो मति प्रकट प्रथम तें होइ।
ढाँपे उर बिन उरजहू कन्या जिमि नर जोइ ॥[3]

---

१. दयाराम सतसई, छन्द ४६४।

२. वही, छन्द ३२६।

३. वही, छन्द ३७६।

अपने-अपने गौरव की समानता इन दोनों में गौरव प्राप्त करने के प्रथम ही सुषुप्त रूप में विद्यमान है।

संसार की क्षण-क्षण बदलती परिवर्तनशीलता का सुन्दर चित्र इस दोहे में सहजता से व्यक्त हुआ है—

> आज सुकालि न अब सुघरी, यहें चाल जगख्याल।
> नभमें नभ ज्यों प्रथक पल, सित असित पितलाल ॥[१]

चार घड़ी की चाँदनी है। जो आज है वह कल नहीं रहेगा, जो अभी है वह घड़ी भर बाद बदल जायेगा। संसार तो सावन-भादों का आकाश है कभी श्वेत, कभी श्याम, कभी लाल और कभी पीत।

सावन-भादों के आकाश के रूप में संसार का हृदय-ग्राही चित्र प्रस्तुत किया गया है। सावन में आकाश का रूप प्रतिपल बदलता रहता है। इसी तरह संसार कभी शांत और स्वच्छ रहता है तो कभी अज्ञात और अशांति का ठौर बन जाता है। कभी दुःख-दैन्य से पूरित है तो कभी प्रेम और आनन्द में निमज्जित।

अनन्त गुणों के बीच एक दोष की गिनती नहीं होती है। चन्द्रमा में अनेक गुण होने के कारण उसका कलंक-दोष प्रायः तिरोहित हो जाता है। कालिदास ने इसी तथ्य का समर्थन करते हुए कहा है—एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवांकः। परन्तु दयाराम इसी बात को प्रबल प्रमाण के साथ प्रस्तुत करते हैं—

> गुन अनन्त में दोष अनु, सो करि सके न बाध।
> ज्यों न लोन डलि के मिले, क्षार पयोधि गाध ॥[२]

'धार पयोधि' में 'लोन डलि' का कितना अस्तित्व ? 'डलि' और 'गाध' के द्वारा 'अणु' और 'अनन्त' की सुन्दर व्यंजना हुई हैं। दयाराम ने अपनी बात का समर्थन करने में या विधान करने में हमेशा अपनी मौलिकता प्रदर्शित की है। 'दीपक के नीचे अँधेरा' सामान्य प्रचलित उक्ति है। दयाराम दो दीपकों को एकत्र कर इस अन्धेरे को दूर करना चाहते हैं—

> हरें ओंर अज्ञान बुध, ताकों फिर बुध ओंर।
> मिलन दीप ज्यों परस्पर, हरें तिमिर दुहुँ ठोंर ॥[३]

दीप से दीप जलता है—यदि यह एक सत्य है तो दीप से दीप का अन्धेरा दूर होता है—दूसरा सत्य है।

---

१. दयाराम सतसई, छन्द ३५३।

२. वही, छन्द सं० ६०७।

३. वही, सं० ४७९।

मन बड़ा चंचल होता है। प्रति पल उसका रंग बदलता है। मन के रंगों के इस वैचित्र्य को दयाराम ने बड़ी बारीकी से उरेहा है—

मन विचार पल-पल पृथक, अकथ सकत कथि कांन।
जिमि कुसअनि उषकनि, बरन पलटें अति भामान ॥[१]

सुबह के समय कुश की नोंक पर ओस की बूंदें पड़ी रहती हैं और सूर्य-रश्मियों के पड़ने से अनेक रंग उन बूंदों पर आते-जाते रहते हैं। मन भी ऐसा ही है। चंचल मन का यहाँ एक सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया गया है।

अन्यत्र आसक्त प्रिय पर बरबस ध्यान जाता रहता है। मित्र-द्रोही को तो याद नहीं करना चाहिए। फिर भी मन और ध्यान उसकी ओर चले ही जाते हैं। मुँह के भीतर कोई अंग दुःखता हो तो जिह्वा बारम्बार उसका स्पर्श करती रहती हैं। यह एक अनुभूत सत्य है। दाँतों के बीच कुछ रह गया हो या मुख में कोई फुंसी निकल आई हो तो जीभ बरबस वहाँ चली जाती है।

मित-चित जान्यो अनत दुःख, दुसह न छूटे ख्याल।
मन गति ह्वां बरज्यों न रहि, ज्यों रसना मुख साल ॥[२]

संसार श्रद्धा के सहारे चलता है—श्रद्धावान् लभते ज्ञानं। जैसी श्रद्धा वैसी सिद्धि। दयाराम श्रद्धा का महत्व समझते हैं। श्रद्धा है तो दूर भी निकट है और श्रद्धा नहीं है तो निकट भी दूर है। देखिए गाय के स्तनों के अति निकट रहने वाला जिगोंर दूध से वंचित रहता है, दूर बँधा हुआ बछड़ा दूर रहते भी दूध का अधिकारी बनता है।

बिन रति का बड़ निकट तें, नां जिगोंर गोतीर।
निपत लपटि स्तन तहु रगत, लहे दूर बछ खीर ॥[३]

दयाराम की सूक्तियों में उनकी अपनी सूझ-बूझ है, प्रशस्त मौलिकता लेकर दयाराम ने उन्हें मार्मिक और चोटदार बनाया। वास्तव में हमें दयाराम के अधिकारी विद्वान् डॉ० अम्बाशंकर नागर जी के इस कथन से सहमत होना चाहिए कि सूक्तियों में दयाराम की सूझ-बूझ और मौलिकता की दाद देनी पड़ती है।'[४]

दयाराम ने मानव-प्रकृति को लेकर बहुत कुछ कहा है। संगति, सन्त और

---

१. दयाराम सतसई, छन्द सं० ५१३।

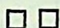
२. वही, सं० १६९।

३. वही, दोहा।

४. दयाराम सतसई, भूमिका।

हरिजन, गुरु, सज्जन-दुर्जन, वड़े लोग, निन्दक, याचक, ज्ञानी-मूर्ख, दूती और पाती, पराधीन और गुलाम, प्रारब्ध और भाग्य, ईश्वरेच्छा, संसार, श्रम, जीवन, मृत्यु, धन, स्वार्थ और परमार्थ, शरणागति, सावधानी, चतुराई, कलि-युग, गुण, गरीबी, युक्ति, विवेक, अविद्या, कला, कुकृत्य, मन और मनोवृत्तियाँ, त्याज्य और ग्राह्य आदि को अपनी रचना का विषय बनाया है। कहीं-कहीं पर काव्य के माध्यम से उपदेश भी दिए हैं।

वस्तुतः दयाराम की नीति-विषयक सूक्तियाँ उन्हें हिन्दी के प्रमुख सूक्तिकारों में विशिष्ट स्थान प्रदान करने में समर्थ हैं।



११. भाषा शैली

दयाराम सतसई की भाषा ब्रजभाषा है। एक गुजराती भाषी कवि ने अपने मन की सम्पूर्ण श्रद्धा के साथ अपनी हृदय-धारा को हिन्दी में व्यक्त करने का प्रयास किया है। दयाराम केवल एक अहिन्दी भाषी सज्जन ही नहीं थे अपितु वे अपनी मातृभाषा गुजराती के समर्थ कवि के रूप में ख्याति भी अर्जित कर चुके थे। अपनी मातृभाषा में विपुल साहित्य सर्जन के साथ उन्होंने देश की तत्कालीन साहित्यिक भाषा में कृष्ण-भक्ति से प्रेरित होकर साहित्य सर्जन का मार्ग अपनाया। यह असाधारण आत्म-विश्वास का काम था। दयाराम ने न केवल भक्तिभाव व्यक्त करने के लिए मन की मौज में आकर ब्रजभाषा में लिखा है वरन् सम्पूर्ण साहित्यिक गम्भीरता के साथ उसमें अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करने का सुन्दर प्रयास किया है।

हमारे देश में मध्यकाल तक संस्कृत के प्रति सम्मान की भावना अक्षुण्ण रही है। उसके महत्व को कम आँकने का प्रयत्न प्रायः नहीं हुआ है। देशी भाषाओं के लेखकों में सर्वप्रथम महात्मा कबीर ने संस्कृत को 'कूप जल' कह कर भाषा के बहते नीर में वाणी को प्रक्षालित करने का दावा किया है। सूर और तुलसी चुपचाप अपने काव्य-निर्माण में प्रवृत्त रहे। केशव के सामने फिर यह दुविधा खड़ी हुई कि संस्कृत में लिखा जाय या भाषा में ? संस्कृत का अपार पाण्डित्य होते हुए भी केशव ने ब्रजभाषा के प्रति अपनी आसक्ति प्रकट करते हुए ऊर्ध्वबाहु होकर कहा है—

गीर्वाणवाणी हि विशेषबुद्धिस्तथापि भाषारसलोलुपोऽहम्।

केशव ने ब्रजभाषा की ताजगी पर अपना मन समर्पित कर दिया था। इसलिए उन्होंने जो कुछ लिखा वह ब्रजभाषा में ही लिखा। दयाराम के सामने भी यही प्रश्न था। संस्कृत के प्रति उनके मन में अहोभाव था। परन्तु दयाराम जानते थे कि संस्कृत में लिखकर या बोलकर जनता में प्रभाव बिखेरा जा सकता है परन्तु जनता तक नहीं पहुँचा जा सकता है। जनता तक पहुँचने के लिए ब्रजभाषा सबसे उपयुक्त है। कृष्ण-भक्तों के लिए तो वह कृष्ण की वाणी है। रसिकों के लिए वह ललित भाव भरी भाषा है।

ब्रजभाषा के प्रति दयाराम के प्रेम के कारण स्पष्ट है—१—लोगों तक पहुँचने के लिए संस्कृत अपर्याप्त है, २—ब्रजभाषा लोकग्राह्य है और ३—वह स्वयं कृष्ण की वाणी है। शायद अन्तःप्रान्तीय भाषा में संस्कृत की उत्तराधिकारिणी ब्रजभाषा हिन्दी ही है।

प्रथम कहा जा चुका है कि ब्रजभाषा दयाराम की दूसरी भाषा है। उन्हें इस भाषा के अध्ययन की शास्त्रीय सुविधाएँ उपलब्ध न थीं। देशाटन के द्वारा साधु-सन्तों के सम्पर्क से और वल्लभ सम्प्रदाय के व्यापक विस्तार से ब्रजभाषा का ज्ञान सहज में उन्हें प्राप्त हुआ था। नाथद्वारा-कांकरोली और ब्रज में एक लम्बे अरसे तक उनका आना-जाना बना रहा। इसलिए ब्रजभाषियों के प्रत्यक्ष सम्पर्क और सूर और नन्द आदि उत्तम कवियों के साहित्य के श्रवण-पठन से उनका ब्रज-भाषा का अध्ययन विशाल और व्यापक बना। इन स्रोतों से गृहीत दयाराम की ब्रजभाषा में इतनी ही विविधता मिलती है।

अपनी व्यापकता के कारण ब्रजभाषा में एकरूपता प्रायः शिथिल रही है। उसका कोई ठोस व्याकरण नहीं था। अनेक भौगोलिक क्षेत्रों में जन्मे कवियों के द्वारा इसका साहित्यिक प्रयोग किए जाने पर उसमें प्रादेशिक या आंचलिक प्रभाव भी पड़े हैं। दयाराम गुजरात के थे। इसलिए उनकी ब्रजभाषा पर गुजराती उच्चारणों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था और साथ ही साथ उसमें गुजरात में प्रचलित ब्रजभाषा के बोलचाल के रूप का भी संयोजन हुआ है। अतः दयाराम की ब्रजभाषा में सामान्यतया निम्नलिखित विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं—

(१) ब्रजभाषा में 'ओं' का उच्चारण 'ओ' और 'औ' के मध्य होता है। इसलिए कुछ कवि केवल 'ओ' से और कुछ 'औ' से इसे व्यक्त करते हैं। दयाराम ने सर्वत्र 'ओं' का प्रयोग इस उच्चारण के लिए किया है—

त्रूठों मों सिर कर धरों, रूठों द्यो उर लात।
पें निज ओंरन पें नहीं, यह जांचों जगतात ॥[1]

(२) 'ऐं' की जगह सर्वत्र 'एं' की मात्रा का प्रयोग दयाराम में मिलता है—

राज रूप-रसपान सुख, समुझत हें मों नेंन।
पें न बेंन हें नेंनकों, नेंन नहीं हें बेंन ॥[2]

(३) ब्रजभाषा में 'ऋ' अप्रधान स्वर है। इसके स्थान पर प्रायः रि—(ऋतु < रितु), अर—(गृह > ग्रह), इर—कृपा > किरपा) का उपयोग होता है। कुछ शब्दों में 'ऋ' का प्रयोग भी होता है। दयाराम ने प्रायः इन सभी उच्चारणों का प्रयोग किया है—

ऋ = र   घृत > घ्रत
         भृंश > भ्रंस
ऋ = रि/रु   ऋण > रिण तथा ऋषि > रुषि

---

१. दयाराम सतसई—७।
२. वही, १४४।

> रुन

ऋ = इर् वृन्दावन > ब्रिन्दावन

कृपा > किरपा

(४) व्रजभाषा में सभी स्वरों का सानुनासिक रूप मिलता है। परन्तु दयाराम ने 'नकारपूर्व आकार' का सर्वत्र आनुनासिकीकरण किया है—

ऐरी देरी मत करें, मेरी कही तूँ मांन।
कहा पकें रस बढ़ेंगों, मांन आहि कछु पांन॥[1]

इनके अतिरिक्त दयाराम ने व्रजभाषा के रूपों में स्वच्छन्दता से काम लिया है—

(क) वर्तनी में ह्रस्व मात्रा को दीर्घ और दीर्घ को ह्रस्व के रूप में प्रयुक्त किया है जैसे—गति, गती। असि, असी। मति, मती। अति, अती। कपूत, कपुत।

(ख) एक ही शब्द के अनेक रूपों का प्रयोग (Variation) हुआ है—

आग = अग्नि / आगि / अगन / अग्न / अगि।

चतुर = च्यातुर / च्यतुर / च्यातूर।

दृष्टि = दीठि / दिष्टी / दीठ / दीठी।

(ग) वर्ण परिवर्तन—तीसरे वर्ण की जगह पर चौथा और चौथे जगह पर तीसरे वर्ण का प्रयोग किया है—

ध्रुव की जगह पर द्रुव
झूठ " " जूठ
ब्रह्म " " भ्रह्म
जहाँ " " झां
वल्लभ " " वल्लव
जिह्म " " झिह्म

(घ) द्वितीय स्वरान्त वर्ण को हलन्त किया है—

परम > पर्म   शरण > सरण > सर्न
जगत > जक्त   मरण > मर्न
विपरीत > विप्रीत

(च) पदान्त 'न' को द्वित्व किया है—

धन > धन्न   मगन > मगन्न
मन > मन्न   जीवन > जीवन्न
तन > तन्न   कण (कन) > कन्न

---

१. दयाराम सतसई—२१६।

१—गुजराती उच्चारणों के प्रभाव के कारण कुछ शब्दों की वर्तनी में परिवर्तन हुआ है—
तुमारो—त्म्हारो, जहर—झेर, गहन—घेंना, बोज—बोझ, बहुत—बोंत, सके—शके।

२—दयाराम ने शब्दों के आदि मध्य और अन्त के वर्णों का भी लोप किया है—

गरल	को	गर	(अन्त्य 'ल' का लोप)
उदधि	को	उद	(अन्त्य 'धि' का लोप)
आगपा	को	पगा	(आदि 'आ' लोप)
अगाध	को	गाध	(आदि 'अ' लोप)
उदधि	को	दधि	(आदि 'उ' लोप)
सहस्र	को	सस्र	(मध्य 'ह' लोप)
विद्वान	को	विद्वन	(मध्य 'आ' लोप)

३—दयाराम ने शब्दों का अप्रचलित अर्थ तथा कभी-कभी भिन्नार्थ में भी प्रयोग किया है—

(क) अप्रचलित अर्थ में—

कन्या	को	दिशा के अर्थ में
शक	को	भय "
बानवा	को	गणेश "
कुज	को	वृक्ष "
कंकोष	को	सागर "
वनचर	को	मछली "

(ख) भिन्नार्थ में—

कातर	को	'नम्र' के अर्थ में
स्तब्ध	को	'घमण्डी' के अर्थ में
दोहद	को	'प्रेम' के अर्थ में

शब्द भण्डार

दयाराम का शब्द भण्डार विशाल है। ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों से उन्होंने शब्दों को लिया है। वास्तव में समाज के सभी क्षेत्रों से उन्होंने शब्द राशि एकत्र की है। उसके शब्द-भंडार में धर्म, दर्शन, पुराण, ज्योतिष, गणित, खेल आदि क्षेत्रों के अनेक शब्द आये हैं। उनके दोहों में भारतीय आर्य भाषा की सभी भूमिकाओं के शब्द मिलते हैं। उनमें तत्सम, अर्ध तत्सम, तद्भव और देशज शब्दों का मुक्तमन से प्रयोग हुआ है।

(१) तत्सम शब्द—

दयाराम ने संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रचुर प्रयोग किया है। कहीं-कहीं पर संस्कृत की समस्त पदावली का भी प्रयोग किया है। 'सतसई' में प्रयुक्त तत्सम शब्दों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

अभिवादन, अक्षरातीत, पुष्कर, क्रोध, दारु, दुग्ध, पावक, मोक्ष, द्रुम, कुहु, द्युति, मरकट, अनृत, तुण्ड, केकी, तारतम्य, प्रमदा, मूषक, तिमिर, उष्णदा, दस्यु, इस्य, चामिकर, श्रुति, कटाक्ष, ताप, तूल, सर्वेश्वर, कृपण, वरद, उभव, उद्वेग, वनचर, कन्या, दंड, प्रताप, नूतन, प्राण आदि तत्सम शब्दों के साथ प्रेमामृत, प्रत्युपकार, शिशिरातप, पदपंकज, कृपानिधान, पद-पुष्कर सदृश समस्त और सन्धियुक्त शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। दयाराम का संस्कृत भाषा पर अच्छा अधिकार था। इसके दर्शन उनके दोहों में होते हैं।

(२) अर्द्ध तत्सम शब्द—

प्रायः उच्चारण की सुविधा के लिए तत्सम शब्दों के कुछ वर्ण श्रुति मधुर बनाये जाते हैं। ब्रजभाषा कवियों ने उच्चारण की सुविधा के लिए कुछ तत्सम शब्दों में परिवर्तन किया है। इस प्रकार परिवर्तित शब्दों को अर्द्धतत्सम कहा गया है—जैसे गोपाल का गुपाल, निपुण का निपुन। दयाराम ने भी इस प्रकार तत्सम शब्दों को श्रुतिमधुर बनाने का प्रयत्न किया है। इस प्रक्रिया में (१) शब्द मध्यगत और अन्त 'ण' को 'न' में परिवर्तित कर कोमल बनाया गया है —प्राण > प्रान, प्रणत > प्रनत, शरण > सरन, कृपण > क्रपन। (२) 'श' के स्थान पर 'स' का प्रयोग कर उसका उच्चारण सुगम किया गया है जैसे—शील > सील, सर्वेश्वर > सर्वेसुर, शिव > सिव। (३) व्यंजन के हलन्त रूप को स्वरान्त में बदला गया है—धर्म > धरम, हार्द > हारद, प्रधान > पर-धान, प्रताप > परताप।

(३) तद्भव शब्द—

हमारी भाषाओं में तद्भव शब्द अनेक मिलते हैं। इनके अनेक रूप है। ये भौगोलिक विशेषताओं से भी जुड़े हैं। एक तत्सम ऐतिहासिक विकास-क्रम और भौगोलिक स्थिति के कारण अनेक तद्भवों के रूप में विद्यमान है। महाभाष्यकार ने भी इस तथ्य को स्वीकारा है। वस्तुतः ये तद्भव ही भाषा की अर्जित सम्पत्ति के द्योतक होते हैं। यद्यपि दयाराम उस भू-भाग में जन्मे न थे जिसमें वे सहज रूप में आ जाते हैं। परन्तु उनके विराट परिभ्रमण ने उन्हें ब्रजभाषा के इन रूपों से परिचित करा दिया था। दयाराम में ऐसे तद्भव पर्याप्त संख्या में मिलते हैं—नाह (नाथ), नेह (स्नेह), मोख (मोक्ष), छमा (क्षमा), आग (अग्नि), मीत (मित्र), हिय (हृदय), मोल (मूल्य), हरी

(हरित), अयान (अज्ञान), अटारी (अट्टालिका), पाहन (पाषाण), वैद (वैद्य), कटाछ (कटाक्ष) आदि।

दयाराम ने सन्धियों और समासों में स्वतन्त्र और मिश्रित प्रयोग किए हैं। तत्सम शब्दों के अनेक समस्त पद सतसई में प्राप्त होते हैं यथा—प्रेमामृत, दीन-बन्धु, कृपानिधान, पुरुषोत्तमप्रजा, राजरूपरसपानसुख, कृष्णस्वसासुत, पदपुष्कर आदि। कई स्थानों पर शुद्ध सन्धियों का प्रयोग देखने में आता है तो कहीं पर अशुद्ध सन्धियाँ भी दृष्टिगोचर होती हैं—प्रत्युपकार और अन्धमुद्धरन। अर्द्ध-तत्सम या तद्भव और तत्सम शब्दों के आधार पर निर्मित सामासिक पदों के प्रयोग भी सतसई में मिलते हैं—अरुनसीख, गुनअैन, नभीचौथ, मदछाक और सद्वंश आदि।

(४) देशज शब्द—

दयाराम ने ढिग, सानसी, संभालू आदि, देशज शब्दों के साथ गुजराती और राजस्थानी के शब्दों का भी प्रयोग किया है यथा—दमड़ी में द्या ऊंट, जामफल, अेकम्, कहाडिए, अमिव्रुट्टि, लूंटालूट, खोल और धनी (मालिक के अर्थ में) आदि।

(५) विदेशी शब्द—

मध्यकाल के अन्त तक अरबी-फारसी के अनेक शब्द हमारी भाषाओं में घुल-मिल गये थे। परन्तु उनका उत्स अन्यत्र होने से उन्हें विदेशी शब्द ही कहा जायेगा। 'दयाराम सतसई' में अरबी-फारसी शब्दों का स्वाभाविक प्रयोग हुआ है। कुछ शब्द अपने अविकृत रूप में प्राप्त होते हैं और कुछ शब्द विकृत रूप में। इनमें गुलाब, चिक, गुनाह, गरीव, दुश्मन, कमान, जख्म, यार, ख्याल अपने वास्तविक रूप में आये हैं। परन्तु कुछ शब्दों को दयाराम ने स्वेच्छा से तोड़ा-मरोड़ा है जैसे—घुनेघार (गुनहगार), अतराजी (एतराज), मुश्केल (मुश्किल), कागद (कागज), गुवाप-ज्वाप (जवाव), इशक (इश्क) और किशक (कशक) तथा मसागत (मशक्कत)।

अरबी-फारसी के कुछ शब्दों को भी उनके प्रचलित अर्थ से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त किया गया है यथा 'जाली'। इसका सहज अर्थ है नकली। परन्तु दयाराम ने इसे जाल बिछाने वाले के अर्थ में प्रयुक्त किया है। 'जाल' अरबी के 'जअल' से सम्बन्ध रखता है। एक शब्द संस्कृत में 'जाल' है जिसका अर्थ छेददार चीज। परन्तु दयाराम ने अपने अर्थ में 'जाली' का प्रयोग किया है।

दयाराम ने कुछ अरबी-फारसी शब्दों के साथ भारतीय प्रत्यय जोड़े हैं। देखिए—'मरदी' और 'अदरदी' के प्रयोग—

(१) साधन साधि न हों सक्यों, ताको मोहि न ताप।
मरदी हिय हरि बरद की, साधन साध्य न आप ।।११।।

(२) अली अदरदी हरि भये, बिरह दरद हों चूर।
कपूर रहि न बिन मिर्च ज्यों, मिर्च न चाहि कपूर ।।२६६।।

दूसरे दोहे में मूल फारसी का 'दर्द' शब्द है। 'अ' उपसर्ग और इन् प्रत्यय लगाये गये हैं। प्रकृति फारसी में उपसर्ग और प्रत्यय भारतीय हैं। इससे आगे बिरह-दरद में दो भिन्न भाषाओं के शब्दों को एकत्र कर सामासिक पद बनाया है। इसका दूसरा उदाहरण 'सस्रदस्त' है—

सब मीठो माशूक कों, विज्ञांनी कहि सांच।
सकल मनोहर लखि लगें, सस्रदस्त ज्यों कांच ।।११३।।

यहाँ मूल शब्द सहस्र है। कवि ने मध्यवर्ण का लोप करके सस्र के साथ फारसी के दस्त को एकत्र कर सस्रदस्त समास निष्पन्न किया है।

दयाराम की भाषा चलती ब्रजभाषा है। उसमें अन्य कवियों की अपेक्षा शब्दों के अनेक परिवर्तन मिलते हैं। सम्भवतया ये परिवर्त (Variation) उनके यायावरीय जीवन से जुड़े हुए हैं। जिस अंचल से जो शब्द मिला उसका वैसा ही रूप सतसई की भाषा में प्रयुक्त हुआ। इससे भाषा जानदार भी बनी है और लोक-भोग्य भी। सतसई में जहाँ भक्ति का भाव है वहाँ भाषा पारदर्शक बनी है। भक्त की समस्त वृत्तियाँ उसमें झिलमिलाती हुई-सी दिखाई देती हैं। ऐसे अवसरों पर दयाराम की मुहावरेदानी खिलकर सामने आई है। कृष्ण पर उसे पूरी श्रद्धा है, पूरा विश्वास है। यदि कृष्ण कुटिल है तो भक्त का हृदय भी कुटिल होगा ही। जैसे तलवार वैसी म्यान—

चाहु बसाये हृदय में, धरुँ त्रिभंगी ध्यान।
तातें राख्यों कुटिल उर, होहि असी सों म्यान ।।१८।।

मुहावरे और लोकोक्तियाँ भाषा में जान डालती हैं। वस्तुतः भाषा के ये वक्र-प्रयोग हैं जो अपनी बंकिमता के कारण अजीब और आकर्षक होते हैं। दयाराम ने मुहावरों और लोकोक्तियों का बहुत प्रभविष्णु प्रयोग किया है। अपनी बात को समझाने के लिए, उसकी पुष्टि के लिए समाज में परम्परा प्राप्त तथ्य को दयाराम बड़ी कुशलता से नियोजित करते हैं। प्रेम प्रभु से उच्च हैं, श्रेष्ठ है। प्रेम को शिर पर चढ़ाना होता है कन्धे पर नहीं। कन्धे पर प्रभु चढ़ते हैं, शीश पर तो प्रेम को ही विराजमान करना पड़ता है। हनुमान राम के बड़े भक्त हैं, कण-कण में राम का दर्शन उन्हें होता है परन्तु जब 'स्नेह' की बात आती है तो उसे शिर पर चढ़ाते हैं और राम को कन्धे पर—

प्रेम प्रभु हूतें प्रथू, विबुध विचारी लेहु।
कपि सकंध रघुनाथ लिएं, सीस चढ़ाय सनेहु ।।

'स्नेह' की द्व्यर्थकता का कवि ने बड़ा सार्थक प्रयोग किया है। लोगों की प्रचलित परम्परा से अपनी बात की पुष्टि करना दयाराम की अपनी विशेषता है।

दयाराम जगत के रीति-रिवाजों से पूरे परिचित थे। पूरे प्रैक्टिकल थे। लोक में जो है वह स्वीकारने योग्य है। दो चीजें एक साथ नहीं चल सकती हैं—गाल भी फुलाते जाओ और गाना भी गाते रहो। चित्त भी एक साथ दोनों स्थानों पर नहीं रह सकता है—

चित्त एक द्वे अेंन दें कोउ न लहियतु च्हेंन।
गंड फुलेबों गायबों दुह जस संग बने न ॥४६०॥

दयाराम मुहावरों के प्रयोग में बड़े सक्षम और समर्थ हैं। कुछ और उदाहरण लीजिए—

साहस कबू न कीजिए, होइ पुनः परिताप।
भयो बिचारे बिनहि ज्यों, गहे छछूंदर सांप ॥
साधन बल हों तरुँगो, प्रभु का तुम एँसान।
करि हों तारन बरद का, डारि सिधानों लोन ॥४६२॥
कबहू कृष्ण इत्सा बिना, डोले नहिं इक पात।
एही द्रढ चित राखियो, लछ्य बात की बात ॥३५६॥

दयाराम की सूक्तियाँ बड़ी मार्मिक होती हैं सीधे ही हृदय पर असर करती हैं। सुनने वाला सुनता ही रहे पर जवाब देते जवान चुप हो जाय। वे कृष्ण से सीधा ही प्रश्न करते हैं—जैसी तलवार होगी वैसी ही म्यान भी होगी न? आप प्रभु त्रिभंभी हैं इसलिए मुझे अपने हृदय को कुटिल रखना पड़ा।

चाहु बसाये हृदय में, धरुँ त्रिभंगी ध्यान।
तातें राख्यो कुटिल उर, होहि असी सो म्यान ॥

यह लोक स्वीकृत तथ्य है कि जो वस्तु जितनी कष्टसाध्य है वह उतनी कीमँती है। जिस पर जितना परिश्रम लगेगा वह उतनी मँहगी बनेगी जिस पर जितना प्रतिबन्ध होगा वह उतनी आकर्षक बनेगी—

निज इष्टा प्रतिबन्ध का, पें जनि रख्यों व्रजेस।
ज्यों-ज्यों मेंघी चीज जो, त्यों-त्यों मिष्ट विसेस ॥१६२॥

उनकी भाषा धारदार भी है। वेद-शास्त्र के विधान अलग हैं और लोकगति अलग है। वेद और शास्त्र जो कहते हैं लोक में उससे विपरीत देखा जाता है। देखिए पूतना ने भगवान को जहर दिया, भगवान ने उसे सद्गति प्रदान की। भगवान के तुष्ट और रुष्ट होने का कोई निश्चित तरीका नहीं दिखाई देता है। यदि भक्तों से तुष्ट हैं तो सन्त भूतल में क्यों भटकते हैं? और यदि दुष्टों से रुष्ट हैं तो सिद्ध और गणिका क्यों वैकुण्ठ में विराजमान हैं?

दे सो पावे वेद वच, पें क्यों कहिए सत्य।
बकि माधो माहुर दयो, कस पाई सुभगत्य ॥

काहू न मालूम कोंन विधि, तुष्ट रुष्ट भगवन्त ।
गिध गनिका बैकुण्ठ में, भूतल भटकत सन्त ।।

दयाराम के दोहों में एक कसाव है । सरलता के साथ एक गहराई भी है । सरल भाषा में सार्वजनीन सत्य की स्पष्ट अभिव्यक्ति में दयाराम शत प्रतिशत सफल हुए हैं—

भलों भले को सब दिखे, बुरे-बुरे को होई ।
दुष्ट युधिष्ठिर ना मिल्यो, साधु सुयोधन कोई ।।
बिन बिबेक वसु व्यय किये, सोभा कोउ न पाय ।
फूँकी बँसुरी रस न ज्यो, अँगुरी बिना लगाय ।।

भाषा में पर्याप्त विदग्धता भी मिलती है । दयाराम में केवटवाली विनम्रता के साथ विदग्धता है । वे कहते हैं—कृष्ण ! यदि आप खुश हैं तो स्वयं आशीर्वाद दीजिए और यदि नाराज हैं तो स्वयं मुझ पर लात मारिये । पर यह काम दूसरों से न करवाइएगा । कितनी नम्रता ! और साथ ही यह धमकी भी कि दूसरों के आशीर्वाद की न तो उन्हें परवाह है न याचना करते हैं, लात तो सहेंगे ही नहीं । कृष्ण पर एहसान भी और साथ समर्पण भी । दयाराम आगे कृष्ण को कहते हैं—'आप तो बड़े सुकुमार हैं, कोमल हैं । मेरे अपराध बहुत हैं कहाँ तक याद रखेंगे, आपको श्रम बहुत पड़ेगा इसलिए आपका फायदा इसी में है कि आप उन्हें भूल जाइए—

त्रूठों मो सिर कर धरों, रूठों द्यो उर लात ।
पें निज ओंरन पें नहीं, यह जाचों जगतात ।।७।।
अन्नत हें अपराध मम, केसें पेहों अन्त ।
श्रमित होंउगे बीसरों, सकूमार भगवन्त ।।२०।।

दयाराम की भाषा भावानुवर्त्तिनी है । जैसा भाव वैसी भाषा । ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास न रखने वाले नास्तिकों को लताड़ने में वे करीव-करीब कवीरी भाषा का प्रयोग करते हैं ।

दयाराम कहते हैं—'नास्तिक तो उल्लू हैं, अपनी शक्ति की मर्यादा को सूर्य की मर्यादा समझ बैठे हैं—

कहें मीमांसक ईस नां, सुनि मन जिन धरि खांच ।
घू घू घनें न जानही, तहुँ ज्यों सूर हैं सांच ।।

घने का प्रयोग बड़ा मार्मिक है । बहुत उल्लू मिलकर भी कहें तो भी सूर्य की सत्यता पर आँच नहीं आ सकती है । उन्हें अपने विधान और मत पर इतना विश्वास है कि प्रतिपक्षी की निरुत्तरता पर तरस खाते हुए से कहते हैं—

भयो ब्रह्म तें जीव फिरि, ब्रह्म होय कहि मुग्ध ।
ज्यों दधि पयसों होत सो, बहुरि बनें नहि तुग्ध ।।३३५।।

निराकार सबकों कहें, यें प्रभु हें साकार।
जो अवयव नहिं ईस, लह्यौं कहाँ संसार ॥३३०॥

दयाराम ने ज़ो कुछ कहा है वह मौलिक कहा है। संसार के अनुभवों को उन्होंने जिस सरलता और ताजगी के साथ कहा है वास्तव में उनकी अपनी विशेषता है। उनके उपमान बिल्कुल ताजे धरती की सुगन्ध से भरे हैं। संसार के पलटते रंगों को सावन-भादों के आकाश के पलटते रंगों से मूर्तिमंत कर देना उनकी कला का अपना रंग है—

आज सु कालि न अब सुधरि, यहें चाल जगख्याल।
नभ में नभ ज्यों प्रथक पल, सित असित पित लाल॥

जो आज है वह कल नहीं, जो अब है वह घड़ी भर के बाद नहीं रहता है। सावन-भादों के मेघों के समान समय का रंग बदलता रहता है।

सज्जन कभी दुर्जन पर विजय नहीं पा सकता है। छुरी ककड़ी से कभी पराजित नहीं हो सकती है—देखिए—

सज्जन दुरिजन कों भिड़ी, कबहू बिजै न पाय।
क्यों हू छूरि ऊँचे नीचे, ककरी काटी जाय॥२७२॥

दयाराम शब्दों के शिल्पी थे। शब्दों को उन्होंने कहीं-कहीं पर जादूगर के समान नचाकर पाठक या श्रोता को चमत्कृत किया है। प्रायः रीतिकालीन कवियों में यह प्रवृत्ति रही है। दयाराम भी इस कला में प्रवीण हैं। उनकी यह कला अनेक रूपों में मिलती है यमक, श्लेष और अनेकार्थी शब्दों के द्वारा प्रायः यह चमत्कार उन्होंने दिखाया है—

सुनि कन्या ब्रषभान की, तुला न तेरी कोय।
मीन केतु दुख देत प्रिय, मिथुन मिलहू सुख होय॥२७२॥

इस दोहे में सामान्य अर्थ के अतिरिक्त चार राशियों के नाम एक साथ आये हैं। ऐसे अनेक दोहे दयाराम में मिलते हैं।

कुमार जनक उमापति पन्नगधर निधनेश।
शंखबरन शिवनामधर, बरनन एहि ब्रजेस।।२८९॥

इस दोहे में कृष्ण और शिव के पाँच-पाँच नाम हैं। शिव के नाम स्पष्ट हैं, परन्तु उनमें प्रथम वर्ण अलग कर देने से कृष्ण के पाँच नाम उपलब्ध हो जाते हैं।

चमत्कार और पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए दयाराम ने भाषा के विविध प्रयोग किये हैं। शब्द-क्रीड़ा के अन्तर्गत उन पर विचार किया गया है।

वास्तव में दयाराम उन समर्थ कवियों में से हैं जो अपने कथ्य की दिशा में अपनी भाषा को मोड़ देते हैं। दयाराम ने भाषा से जैसा चाहा वैसा काम लिया है। उनकी भाषा में जहाँ एक ओर खण्डन-मण्डन की कठोरता और

तीक्ष्णता है तो दूसरी ओर भक्ति की ऋजुता और विनम्रता भी विद्यमान है। शृङ्गार के क्षेत्र में उनकी भाषा में वैदग्ध्यपूर्ण वाणी की रसिकता और नागरिकता है तो राजदरबारों में पण्डित-वर्ग को चमत्कृत कर देने वाली शब्द-क्रीड़ा की जादूगरी भी है।

शैली—

भाषा की तरह शैली का भी अपना महत्व है। वास्तव में शैली लेखक के व्यक्तित्व से जुड़ी हुई होती है। प्रत्येक कवि या लेखक का अपना व्यक्तित्व होता है उसके व्यक्तित्व के अनुरूप उसकी शैली होती है।

दयाराम ने समय-समय पर भिन्न-भिन्न शैलियों में अपनी अभिव्यक्ति को प्रस्तुत किया है। दयाराम ने प्रमुखतः समास शैली, व्यास शैली, ध्वनि प्रधान शैली, ऊहात्मक शैली और वक्रोक्ति प्रधान शैली तथा चमत्कारपूर्ण शैली का प्रयोग किया है।

समास शैली—दोहा छोटे आकार का छन्द है। इसमें विस्तार का अवकाश नहीं रहता है। थोड़ी-सी शब्द-सम्पत्ति में अपना वैभव दिखाना होता है इसलिए समास शैली दोहे के लिए उपयुक्त मानी जाती है। दयाराम ने समास शैली का अधिकतया उपयोग किया है। समास शैली में अल्प-समासा और बहुला दोनों रूप मिलते हैं।

अल्प-समासा—

श्री राधाबर जाहि बस, ता पद-पुष्कर खेह।[1]
बन्दन कर मांगू सदा, ता पे नूतन नेह॥

× × ×

अर्जुनाभरन जराम्बर कनकलता सों अंग
अभिजित वय आभिर सुता, मिलन चली श्रीरंग॥[2]

इनमें राधावर, पद-पुष्कर दो ही समास हैं। समास छोटे हैं। दो-दो पदों का ही युग्म है।

दयाराम ने दीर्घ समासों का भी प्रयोग किया परन्तु बहुत कम दोहों में—

योगयज्ञजप-तपतिरिथ ग्यांनधरमव्रतनेम।
विहिन वल्लव वल्लभा, करि हरि इक बल प्रेम॥[3]

इस दोहे में दीर्घ समास रचना हुई है। परन्तु अर्थ की दुरूहता इसमें नहीं है।

---

१. दयाराम सतसई, दोहा सं० ५।
२. वही, १९३।
३. वही, ९७।

ध्वनि प्रधान शैली—जहाँ पर कवि व्यंग्य पर विशेष ध्यान रखता है वहाँ अभिव्यक्ति में ध्वन्यात्मकता आ जाती है। अर्थ में लक्षणा और व्यंजना के द्वारा भावों की सूक्ष्मता आती है और अनेक स्तरों का प्रस्फुटन होता है। दयाराम ने भावों को व्यंजित करने में इस शैली का चारु प्रयोग किया है।

लाल लखी छबि आज की, आनँद उर न समाय।
पें रति कम तासु अब, जानि जियों नहि जाय ॥[1]

—'हे लाल! आज की शोभा देखकर मेरे हृदय में आनन्द नहीं समाता है पर कमनसीब हूँ अब अधिक नहीं जी सकूँगी।' प्रिय की मधुर मूर्ति को देखकर उसे जीने की इच्छा होनी चाहिए थी, पर वह मरना चाहती है—यह वस्तु ही उसके प्रियतम का अन्य संभोग की सूचना या व्यंजना करती है। यहाँ वस्तु से वस्तु व्यंजना है।

स्यामा आनन ससि लखन चकोर तरसत नाह।
मान परब केतो अज्यों, टरत न घूँघट राह ॥[2]

यहाँ श्यामा का आनन चन्द्र है, नायक चकोर है मान रूपी ग्रहण पर्व लगा है और घूंघट रूपी राहु चन्द्र को मुक्त नहीं कर रहा है। रूपक के द्वारा मान छोड़ो, घूंघट हटाओ की व्यंजना के द्वारा नायक की नायिका के प्रति 'रति भावना' को व्यंजित किया गया है।

ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ पर भावों की सुन्दर अभिव्यंजना हुई है। देखिए—

स्यामा तूँ जिन जाहि सर, बिन घूँघट पट द्योस।
परिहें तेरों बदन लखि, भोंर कोक मुख सोस ॥

× × ×

कागद का गद राधिका, काग दए जो सोंन।
सरकत सरकें कंचुकी, परसन को पिय पांन ॥

× × ×

कटाक्ष नोक चुभी किधों, गड़े उरोज कठोर।
कें कठि छोटी में हितू, रुची न नन्दकिशोर।[3]

ऊहात्मक शैली—रीतिकाल के सभी कवियों ने ऊहात्मक शैली को अपनाया है। दयाराम पर इनका प्रभाव था। इस शैली में कल्पना की इतनी ऊँची उड़ान होती है कि आस्वादक इस आकाशगामिता के साथ सामंजस्य स्थापित नहीं रह सकता है। दूर की कौड़ी लाने का प्रयत्न किया जाता है। भावों की इससे पूरी उपेक्षा हो जाती है। स्वाभाविकता प्रायः लुप्त हो जाती

---

१. दयाराम सतसई, १८४।

२. वही, २५०।

३. वही, २४९, २०२, १९२।

है। चमत्कार सर्जना हावी हो जाती है। बिहारी में ऐसे अनेक वर्णन मिलते हैं। दयाराम ने भी इस प्रचलित शैली का आश्रय लिया है—

अलि ! तेरें पानी छुयो, पानी परसही लागि।
सहू सद्कारी भै दही, अगन हु तेरी आगि ॥[1]

—यहाँ एक विरहिणी नायिका को शरद ऋतु में उसकी सखी ठंडी से बचने के लिए अँगीठी लाकर रख देती है। नायिका स्वतः ही विरह की अग्नि से संतप्त है। इसलिए वह हाथ से पानी छिड़ककर उसे बुझा देती है। इस पर कल्पना की उड़ान भरकर कविनिबद्धजन प्रौढोक्ति के द्वारा यह प्रस्तुत किया गया है कि नायिका ने हाथ में पानी लिया तो वह पानी इतना दाहक बन गया कि उसने अँगीठी की आग को जलाकर राख बना दिया। विरह के आधिक्य को प्रकट करने के के लिए यह दूरारूढ़ कल्पना की गई है। इसी तरह—

टाम धरी घनसार सखि, बरबट बिरहनि बाल।
होरि दिवारी एक वय, प्रकटी दीपक माल ॥[2]

—विरहिणी नायिका के हृदय में विरह की अग्नि जल रही है। उसे शान्त करने के लिए शीतोपचार के रूप में सखी कपूर की माला हठपूर्वक पहनाती है ताकि थोड़ी शीतलता मिले परन्तु हुआ उलटा। कपूर की माला पहनते ही दिल की आग ने कपूर के मनकों को प्रज्वलित कर दिया और माला दीपमाला की तरह जल उठी। अन्दर हृदय विरह की होली में जल रहा है और बाहर दीपमाला की रोशनी हो रही है। यों नायिका में होली दीपावली एक साथ मनाई जा रही है। विरह अग्नि की अतिशयता व्यंजित करने के लिए कल्पना की अस्वाभाविक उड़ान भरी गई है।

वक्रोक्ति प्रधान शैली—प्रधान आलंकारिक भामह वक्रोक्ति को ही काव्य का सर्वस्व मानते थे। वह सब अलंकारों की जननी है—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिर्यंथाऽर्थो हि विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥

कथन में यदि वक्रता न हो तो वह वार्तामात्र बनकर रह जाता है। वक्रोक्ति कथन की एक भंगिमा है जो विच्छित्ति-विधायक होती है। दयाराम में वक्रता अनेक रूपों में मिलती है। मोहन ने एक गोपी से दही माँगा। गोपी ने सारा दोना ही उनके सामने पटक दिया। दही बिखर गया, पर कृष्ण खुश ! कुछ माँगा कुछ दिया फिर भी नन्दकुमार तृप्त ! खुशी का कारण न रहते हुए भी

---

१. दयाराम सतसई, २३५।
२. वही, २३४।

खुशी बताई गई है। परन्तु दोना के श्लेष दो-ना पदभंग करते हुए गोपी ने ना ना (दो बार ना) कहा है। स्त्रियों की दो बार ना ना 'हाँ' में पलट जाती है। गोपी से दही माँगा गया, गोपी ने दोना के द्वारा सम्मति दे दी। अतः नन्दकुमार खुश हो गये। देखिए—

दधि देंगी मोहन कह्यों, दोंना दीनो डार।
मांग्यो कछु दीनो कछू, रीझे नन्दकुमार ॥[1]

इसी प्रकार—

आगी तें वेली बढ़ें, जल सींचें कुमलाय।
सिरके पलटें फल मिलें, मुख बिन खायों जाय ॥[2]

—एक वेली आग से फलती-फूलती है, पानी से मुरझा जाती है। सिर के बदले फल मिलता है और विना मुख के खाया जाता है। यहाँ विरोधाभास अलंकार है पर यह वक्रोक्ति पर आधारित हैं। प्रेम की लता विरह अग्नि से वृद्धि को प्राप्त करती है। सिर की कीमत पर उसका फल मिलता है उसका आस्वाद हृदय करता है।

बानिक नटवरलाल किन लिखत तोष दिन रैंन।
पान करें प्यासें मरें बनचर त्यों मम नेंन ॥[3]

कृष्ण की शोभा का पान करने पर भी ये नेत्र प्यासे ही रहते हैं। यहाँ विशेषोक्ति के कारण कथन में वक्रता आई है।

उपर्युक्त उदाहरणों में वक्रता का कारण अलंकार थे। अलंकारविहीन कथन भी वक्र होता है। दयाराम कहते हैं—प्रभु! यदि मैं अपने बल तरूँगा तो उसमें आपका एहसान ही क्या! तब यह प्रकट हो जायेगा कि यह तो स्वयं ही तर गया तो फिर आप अपने तारन-बिरुद का क्या करेंगे? क्या नमक डालकर अचार बनायेंगे? कथ्य यह है कि भगवान मुझे येन केन प्रकारेण तारना ही होगा। इसी भंग्यन्तरेण कहा गया है—

साधन बल हों तरुँगों, प्रभु का तुम ऐंसान।
करिहों तारन बरद का, डारि सिधांनो लोंन ॥[4]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि दयाराम एक समर्थ कवि हैं। काव्यशिल्प के सभी उपकरणों का उन्होंने बड़ी क्षमता के साथ उपयोग कर अपनी अभिव्यक्ति को प्रभावशाली और समृद्ध बनाया है। □□

---

१. दयाराम सतसई, २०९।
२. वही, ८१।
३. वही, ९८।
४. वही, ४९२।

१२. अलंकार योजना

युवतेरिवरुप भंगकाव्यं स्वदने शुद्धगुणं सदप्यनीव।
विहित प्रणय निरंतराभिः सदलंकार विकल्प कल्पनाभिः ॥[१]

काव्य में अलंकारों का अपना एक विशेष स्थान है। शब्द-सौन्दर्य और मनोहरता का आधार अलंकार ही हैं। अग्निपुराणकार के शब्दों में कहें तो—

अलंकरणमर्थानामर्थालंकार - मिष्यते।
तं विना शब्दसौन्दर्यमपि नास्ति मनोहरम् ॥[२]

दण्डी ने काव्य के सब शोभाकारक धर्मों को अलंकार कहा है।[३] इसमें अलंकारों के अतिरिक्त गुण, रस, ध्वनि आदि काव्य-तत्व भी अलंकारों में आ जाते हैं। परन्तु परवर्ती आचार्यों ने रस, ध्वनि और गुण आदि तत्वों से अलंकारों को पृथक् कर उन्हें केवल शब्दार्थ के अस्थिर धर्म के रूप में स्वीकारा है। अलंकारों के विषय में अनेक मतवाद हैं परन्तु काव्य में अलंकारों की उपयोगिता से इनकार नहीं किया जा सकता है। ध्वनिवादियों ने भी अलंकारों के उपकारकत्व के प्रति अपना आग्रह व्यक्त किया ही है। कविजन अपनी अभिव्यक्ति को प्रेषणीय बनाने के लिए अलंकारों का सहारा लेते रहे हैं। कितना ही बड़ा कवि क्यों न रहा हो उसकी कविता अलंकार-विरहित नहीं रही है। अलंकार कवि के लिए एक उपयोगी उपादान है जिसके माध्यम से वह अपने शब्दों में संगीत भर सकता है, अपनी कल्पना को चित्रों में ढाल सकता है और अपने भावों का उत्कर्ष प्रस्तुत कर सकता है। आचार्य शुक्लजी ने अलंकारों के विषय में अपना विचार व्यक्त करते हुए कहा है—'भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति अलंकार है।'[४]

वस्तुतः अलंकार आज तक काव्य में एक अनिवार्य तत्व के रूप में अपना स्थान बनाता चला आया है। समय के बादलों ने चाहे उसे अनेक रंग दिए हों चाहे उसे ढंक दिया हो तो भी उसका अपना एक पक्का रंग है जो कवियों की वाणी में हमेशा झलकता रहा है। अलंकारों से भाषा में गति आती है।

---

१. काव्यालंकार सूत्र ३/१/३१।
२. अग्निपुराण।
३. काव्यशोभाकारान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते। काव्यादर्श २/१।
४. चिन्तामणि (प्रथम भाग) पृ० १८३-८४।

अकल्प को सुकल्प बनाया जाता है। भावों को प्रभावशाली और सजीव किया जा सकता है। अलंकार चमत्कार भी उत्पन्न करते हैं, कवि के सामर्थ्य को भी प्रकट करते हैं।

अलंकारों के तीन भेद किये गये हैं—१. शब्दालङ्कार २. अर्थालङ्कार और ३. उभयालंकार। शब्दों पर आश्रित अलंकार शब्दालंकार और अर्थ पर आश्रित अलंकार अर्थालंकार तथा दोनों पर आश्रित उभयालंकार कहे गये हैं। यद्यपि यह अन्वय-व्यतिरेकी सम्बन्ध एकान्ततः पूर्ण नहीं है। इन तीनों में अन्योन्याश्रयीभाव विद्यमान है। शब्दालंकारों में अर्थ का महत्व होता है और अर्थालंकारों में शब्दों का योगदान रहता है।

दयाराम रसहीन कवि नहीं थे। भावों की विविधता से उनका काव्य परिप्लावित है। वे एक नागरिक और रसिक कवि थे। एक प्रभावशाली वक्ता और कथावाचक थे। शब्दों की गति और चाल को पकड़ने वाले उत्कर्ण संगीतज्ञ थे। उस समय की हवा में तो रीतिकाल व्याप्त था। वे कमनीय कथन के पक्षपाती थे। चमत्कार की विमुग्धता के जानकार थे। कठिन काव्य और अमल सरस उक्ति के आग्रही थे। उनके मत में दुर्ग, काव्य, कूष्मांड, कुच और ऊख कठोर ही सुहाते हैं और वही कविता श्रेष्ठ होती है जिसमें थोड़े वर्णों में गम्भीर अर्थ निहित हो, जो सरस हो, निर्मल हो और जिसमें ताजगी हो—

> दुर्ग, काव्य, कुसमांडु, कुच उख कठोर त्यों सार।
> बरन थोर अति अर्थ सह अमल सरस सद होय।[१]

दयाराम की कविता में ये सभी विशेषताएँ मिलती हैं। अपनी अभिव्यक्ति को सरस, सजीव, प्रभावशाली, चमत्कारपूर्ण और ताजा बनाने के लिए दयाराम नें अलंकारों का सुरुचिपूर्ण प्रयोग किया है।

प्रथम हम शब्दालंकारों पर विचार करेंगे।

१. अनुप्रास—वर्णों के साम्य को अनुप्रास कहते हैं।[२] इसके अनेक भेद होते हैं। छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास, लाटानुप्रास मुख्य हैं। अनुप्रास मुख्यतः अपनी संगीतात्मकता से भावों के उत्कर्ष में सहायक होता है। प्रवत्स्यत्पतिका की बेचैन अवस्था का चित्रण इन शब्दों में हुआ है—

> कलकि न कल पलका न पल, पलक लगी अलि मेरि।
> प्रान प्रान कल जात मो, प्रान जात नहिं देरि।।[३]

इस दोहे में कल में क और ल की, 'पल' में प और ल की एक बार आवृत्ति होने से छेकानुप्रास है।

---

१. दयाराम सतसई, दो० ७०२/७०३।

२. अलंकार मंजरी : कन्हैयालाल पोद्दार, पृ० ५।

३. दयाराम सतसई, दो० २०१।

वृत्तिगत अनेक वर्णों की अथवा एक वर्ण की अधिक बार आवृत्ति किये जाने को वृत्यनुप्रास कहते हैं। दयाराम ने 'लाल' और 'लली' की मिलन-लालसा की संगीत के साथ प्रकट किया है—

लाल लली ललि लाल की, लें लागी लखि लोल।
ल्याय देंरि लय लाय कर, दुहुँ कहि सुनि चित डोल ॥[1]

—नायक और नायिका एक दूसरे से मिलने को उत्सुक हैं। दोनों की मध्यस्थ दूतिका दोनों की मिलन-लालसा को सुनकर स्वयं डोल उठी है। चित्त की डोलन-अवस्था की सुन्दर अभिव्यक्ति 'ल' की अनेक बार आवृत्ति होने से हमारे सामने आती है।

लाटानुप्रास में शब्द और अर्थ दोनों की आवृत्ति होने में तात्पर्य की भिन्नता रहती है। इससे एक चमत्कार पैदा होता है। दयाराम में इसके बहुत उदाहरण मिलते हैं। देखिए—

हरिचरन आगारचित हरिचरन आगार।
वांको फल संसार हें वांको फल संसार ॥

× × ×

हरि भगती ही छाँहि लों, मुकति मुकति बत पाय।
हरि भगती ही छाँहि लों, मुकति मुकति बत पाय ॥[2]

२. **यमक**—यह कवियों का प्रिय अलंकार रहा है। कालिदास, भारवि और माघ के काव्यों में इसकी छटा दर्शनीय है। वृन्द ने तो यमक शतक ही लिख डाला है। दयाराम ने इसका बहुत सुन्दर प्रयोग किया है। इस बहु-आयामी शब्दालंकार के सभी आयाम 'सतसई' में मिलते हैं। सम संगीत की सृष्टि के साथ-साथ विदग्धतापूर्ण चमत्कार इसकी खास विशेषताएँ हैं।

यमक अलंकार वहाँ होता है जहाँ समान स्वर और व्यंजनों से युक्त किन्तु अर्थों में भिन्न पदों को आवृत्ति होती है। यह आवृत्ति कहीं सार्थक, कही निरर्थक और कहीं सार्थक-निरर्थक दोनों होती है। इनके अनेक भेद होते हैं।

मोहि मोह तुम मोह कों, मोहे न मो कहुँ धारि।
मोहन मोह न वारिए, मोहनि मोह निवारि ॥[3]

इसमें प्रथम मोहन का अर्थ सार्थक है दूसरा मोहन पद निरर्थक है। मोहनि मोह नि में आकार एक है अर्थ भिन्न हैं।

मनन करो कंसारि छव, मन न करो संसार।
हरि न वारिसों छार दे, हरि वारिधि सब सार ॥

१. दयाराम सतसई, दो० ७३।
२. वही, दो० ५७०/५६४।
३. वही, ११३।

सुमरन काल सु टरि गयो, सु मरन काल टरें न।
काल काल सुमरें न हरि, काल काल सु मरें न॥[1]

३. पुनरुक्ति—भाव को रुचिर बनाने के लिए जहाँ एक ही बात को बार-बार कहा जाय वहाँ पुनरुक्ति अलंकार होता है। भावों की तीव्रता को प्रकट करने के लिए एक शब्द को दुहराया जाता है—

मुकुर मुकुर सब वस्तु भई नयन अयन किय लाल।
द्रग पसारुँ जित-जित अली तित-तित लखूँ गुपाल॥[2]

—एक बार गोपी के नेत्रों में कृष्ण सभा गये तो फिर उसे अत्र-तत्र-सर्वत्र कृष्ण ही दिखाई देने लगते हैं। सर्वत्र कृष्ण हैं, उसे कृष्ण के अतिरिक्त कुछ नहीं दृष्टिगोचर होता है। इस भावमयता को प्रकट करने में मुकुर-मुकुर, जित-जित, तित-तित शब्दों की द्विरावृत्ति हुई है। साथ-साथ अनुप्रास से अनुप्राणित होने के कारण हृदय के उल्लास की संस्कृति भी इसमें मुखरित है।

४. पुनरुक्तवदाभास—जहाँ विभिन्न अर्थ वाले और आकार वाले पद सुनने में समानार्थी प्रतीत हों वहाँ यह अलंकार होता है—

ज्या बिन असु न रहे सु बड़, ओंर ऊँच तहु होन।
पय पानी तें मधुर पें, व्हां परि जिए न मीन॥[3]

—जहाँ पय और पानी दोनों पर्यायवाची होने पर भी प्रस्तुत दोहे में भिन्नार्थता रखते हैं। दोनों भिन्न अर्थ वाले हैं, भिन्न आकार के हैं परन्तु सुनने में पय-पानी पर्यायवाची प्रतीत होते हैं।

५. वीप्सा—जब भय, आदर आदि कारणों से एक ही शब्द को एकाधिक बार कहा जाय तब वीप्सा अलंकार होता है।

समर समर मन सरस छब, नटबर नगधर कृष्ण।
जस पदपय हर सिर धरत, अघहर भर सब तृष्ण॥[4]

कृष्ण के प्रति आदर भाव के साथ स्मरण करने का विधान 'समर' 'समर' पद की आवृत्ति के द्वारा किया गया है। एक कृष्ण ही केवल स्मरण करने लायक हैं—इस भावना से आदर व्यक्त किया गया है।

६. वक्रोक्ति—जहाँ कोई किसी बात को जिस मतलब से कहे और सुनने वाला उसका कोई और ही अर्थ लगावे तो वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है। इसके दो भेद हैं—श्लेष वक्रोक्ति और काकु वक्रोक्ति। दयाराम में श्लेष वक्रोक्ति नहीं मिलती है। काकु वक्रोक्ति के अनेक उदाहरण हैं। यथा—

---

१. दयाराम सतसई, ३५१, ७१, ४१६।
२. वही, दो० १००।
३. वही, ११४।
४. वही, ७०६।

भक्त न हों सांच परि, अधम पतित हूँ में न।
मो सुधि अजहू नां लई, कंसे पंकज नेंन॥[१]

७. श्लेष—श्लेष में दो या दो से अधिक अर्थ एक ही पद में निहित होते हैं। इन दो अर्थों को कहीं तो पद को खण्डित करके निकालना पड़ता है और कहीं पर अभंग रूप में ही अर्थ निकलता है। इस तरह श्लेष के दो भेद होते हैं—१. अभंग श्लेष और सभंग श्लेष।

दयाराम श्लेष की कला में प्रवीण थे। अनेकार्थी बहुत से शब्दों का उन्होंने प्रयोग किया है। पदों को भंग करने पर खण्डों से भी अर्थ निकाले हैं। इसमें पाण्डित्य और चमत्कार दोनों ही निहित हैं।

जगजीवन जन ताप हर, चपला पियु बपु स्याम।
वैष्णों बल्लभ नीलग्रीव, हरि माधो जस नाम॥[२]

—मेघ और कृष्ण को एक साथ लिया गया है। यहाँ पर सभी पद दो अर्थ वाले हैं मेघ जगजीवन है क्योंकि पानी देता है; कृष्ण भी जग के जीवन हैं। दोनों तापहर हैं। एक चपला लक्ष्मी का प्रिय है तो दूसरा चपला-बिजली का प्रिय है। दोनों श्याम शरीर वाले हैं। वैष्णोवल्लभ श्रीकृष्ण वैष्णवों के प्रिय हैं तो मेघ वनस्पतियों के प्रेय हैं। दोनों नीलग्रीव (शिव और मयूर) प्रिय है। मेघ और कृष्ण की समता को लक्ष्य करना कवि का अभीष्ट है।

यह अभंग श्लेष है। इसके अन्य उदाहरण हैं—

(१) खग सुरबाहन ईस बिभु, हरि प्रिय रिपु सारिंग।
ऐसे हें द्विजराज शुभ, कंचन बरन सुभंग॥
गिरि निवास माधों प्रियें, निकट त्रिया जितकांम।
नीलकंठ बिन कोन अस, काल काल छब धाम॥
दधि सुतधर भूधर धरत, भूतनाथ पशुपाल।
स्मार्त कहे शंकर भये, वैष्णो कहें नन्दलाल॥[३]

सभंग श्लेष पदों को खंडित करके अर्थ निकाले जाते हैं—

जोबन में हरितें भजों, सो वैभव की आस।
बिलग गयों मन माय बत, यह करतब अबिनास॥[४]

—इस दोहे के अनेक अर्थ होते हैं। दयाराम के श्लेष-सामर्थ्य का यह उत्कृष्ट उदाहरण है। जोबन—यौवन में, जो वन में—जो पानी में, जो बन में—जो जंगल में—इस प्रकार 'जो बन में'—के अनेक अर्थ होते हैं।

---

३. दयारान सतसई, १२।
१. वही, दो० २७६।
२. वही, २८१-८२-६०।
३. वही, २६३।

—इस दोहे के पाँच अर्थ दिये गये हैं। अन्य अधिक अर्थों की सम्भावना भी है।[1]

दयाराम के शब्दालंकारों में पाण्डित्य है, चातुरी है और चमत्कृति भी है। प्रायः सभी शब्दालंकारों के उदाहरण उनकी रचना में मिलते हैं। भावों की गहनता भी उन्होंने अलंकारों के द्वारा प्रकट की है—

सब ठां गुनिके संगतें, पावें सब सनमान।
अगुनवती उर पें धरी, क्यों न होइ अपमान।।

—अगुनवती का अर्थ होता है विना गुणवाली और दूसरा अर्थ होता है—विना डोरी की माला। इस श्लिष्ट शब्द के सहारे स्वकीया नायिका ने अपने हीन आचरण वाले पति की अपमान-योग्यता को बड़े लाक्षणिक ढंग से व्यक्त किया है। रोष भी व्यक्त हुआ और साथ ही परपुरुष के साथ रमण करने वाली को अगुनवती भी कहा गया है।

अब दयाराम प्रयुक्त अर्थालंकारों का परिचय प्राप्त करें—

१. उपमा—उपमा एक प्रमुख अलंकार है। वास्तव में यह अलंकार-रंग-मंच की शैलूषी है।[2] कविवंश की माता है। सभी अलंकारों के मूल में हैं।

दो पदार्थों के साधर्म्य को उपमान-उपमेय भाव से कथन करने को उपमा कहते हैं।[3] रूप, गुण, धर्म के आधार पर सादृश्य स्थापित किया जाता है।

मो उर में निज प्रेम अस, परिवृढ अचलित देहु।
जैसे लौटन दीप सों, सरक न ढुरक सनेहु।।[4]

—यहाँ कवि ने अपने हृदय को लोटन-दीप के समान बनाने को कहा है। डॉ० नागरजी, यहाँ उपमा मानते हैं।

सुख पावें की दुःख लहें, लगी डगें नहीं प्रीति।
लपटि वृक्ष जिमि वल्लरी, छुटी न कबु यह रीति।।[5]

—यहाँ वल्लरी उपमान है, प्रीति उपमेय है, जिमि समानता वाचक शब्द है। लगकर न छूटना यह समान धर्म है।

कारी सारी कुहु छपा, छुपत जात द्रुम ओट।
दुरि न रहे द्युति देह तहु, ज्यों ससि बदरा गोट।।[6]

---

१. देखिए—द० स० सं० डॉ० अम्बा० नागर, पृ० १५७ (प्रथम संस्करण)
२. देखिए—उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिका भेदान्।
रंजयति काव्यरंगे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः।। चित्र मी० पृ० ६
३. अलंकार मंजरी : कन्हैयालाल पोद्दार, पृ० २८।
४. दयाराम सतसई दो० ५२।
५. वही, दो० ११७।
६. वही, दो० १९०।

—यहाँ नायिका की देह द्युति के साथ उपमान के रूप में चन्द्रमा लिया गया है। बादलों में ओझल होने पर भी चाँद अपनी द्युति के कारण छिपा नहीं रह सकता वैसे ही नायिका भी अपनी देह द्युति के कारण अमावस्या की अँधेरी रात में छुपी नहीं रह सकती है। बड़ी चित्रात्मक उपमा है।

चमकी चहुँदिस चँदनी, गोरी धरि सित बास।
मुक्ति सुक्ति लों मिलि चली, कुंज सदन पिउपास ॥[1]

२. रूपक—रूपक एक महत्वपूर्ण अलंकार है। इसमें उपमेय पर उपमान का आरोप किया जाता है। नये-तुले शब्दों में चित्र खड़ा कर देना रूपक की विशेषता है। दयाराम ने सुन्दर रूपक बाँधे हैं।

रूपक के मुख्य दो भेद होते हैं—अभेद रूपक और ताद्रूप्य रूपक। जहाँ उपमेय में उपमान का अभेद आरोप हो वहाँ अभेद रूपक होता है। जहाँ उपमेय को उपमान से पृथक् उसी का स्वरूप कहा जाय, वहाँ ताद्रूप्य रूपक होता है। इनके अनेक भेद होते हैं। दयाराम ने इन सभी भेदोपभेदों का प्रयोग किया है। यथा—

पर्यो मनोरथ पौन है, आव्रतमधि मन तूल।
माधौ मनिधर तुम बिना, ना टरिहै इन झूल ॥[2]

—इस सांग रूपक में कवि ने मन पर तूल का आरोप किया है और मनोरथ पर वात्याचक्र का, माधव पर मणिधर का। मन रूपी रुई मनोरथ रूपी पवन के बगूले के बीच पड़कर झूल रही है। माधव रूपी मणिधर ही इस वात्याचक्र को काटकर मन को स्थिरता दे सकता है। इसमें आँधी में फँसी रुई का ऐषणओं में फँसे हुए मन पर आरोप किया गया है।

प्रेम की उत्पत्ति और विकास का एक सुन्दर रूपक देखिए—

चकमक-सु परस्पर नयन लगन प्रेम परि आगि।
सुलगि सोगठा रूप पुनि, गुन-दारु दृढ़ जागि ॥[3]

—नेत्र चकमक हैं। वे आपस में टकराकर प्रेम की चिनगारियाँ पैदा करते हैं। रूप-रुई उन चिनगारियों को आकर्षित कर प्रज्वलित करती है और गुण रूपी लकड़ियों का ग्रहण करते ही आग फैल जाती है। अग्नि के उत्पादक-प्रसारक सभी अंगों का प्रेम के उत्पादक और प्रसारक अंगों पर अभेदारोप है। अंगों के सहित होने के कारण सांग है। वास्तव में दयाराम के रूपक समृद्ध और समर्थ हैं।

३. उत्प्रेक्षा—जहाँ उपमेय में उपमान की सम्भावना की जाती है वहाँ

---

१. दयाराम सतसई दो० १९१।
२. वही, दो० २४।
३. वही, दो० ६८।

उत्प्रेक्षा अलंकार होता है। कवि की प्रतिभा-शक्ति की इसमें कसौटी होती है। इसके चार मुख्य भेद होते हैं—वस्तूत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा और गम्योत्प्रेक्षा। दयाराम में इस अलंकार का प्रयोग रूपक से कम हुआ है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

कुलहि लाल पित उपरना, निल तनु नन्द कुमार।
प्रेम लपटि अनुराग सिर, मनु मूरति शृङ्गार ॥[1]

—शृंगार के चित्र के साथ नन्दकुमार की सम्भावना की गई है। रंगों के मिश्रण से एक अनोखा चित्र प्रस्तुत हुआ है। इसमें श्रीकृष्ण को देखते ही उनके प्रति अजीब आकर्षण पैदा होने का भाव सूचित किया गया है।

४. अपह्नुति—इसमें उपमेय का निषेध कर उपमान का आरोप किया जाता है।

पीर न त्यारी मेंन ए नारी नारी में न।
अली ! अयानों भिषक ए, इशक-किशक समुझें न ॥[2]

—सामान्य पीड़ा का निषेध कर काम-पीड़ा का विधान किया है।

५. विरोधाभास—जहाँ विरोध का आभास हो परन्तु वास्तव में विरोध न हो, वहाँ विरोधाभास अलङ्कार होता है। यथा—

आगीतें बेली बढ़ै जल सींचत कुमलाय।
सिरके पलटे फल मिलें, मुख बिन खायो जाय ॥[3]

—अग्नि से लता का बढ़ना, जल से कुम्हला जाना, सिर के बदले फल मिलना—आदि विधान आपाततः विरोधी लगते हैं परन्तु विरहाग्नि से प्रेम की वेल बढ़ती है और मिलन के जल से कुम्हला जाती है—मिलन से प्रेम की तीव्रता घटती है। प्रेम सिर को हाथ पर रखकर चलने का सौदा है। इस तरह विरोध का परिहार हो जाता है।

६. प्रतीप—इस अलङ्कार में उपमान को उपमेय बनाया जाता है। इसके अनेक भेद होते हैं।

अमि निधि रस रति तरलता, कृपा त्रपा रुचि मांन।
इत्यादी गुन सदन श्री, लोचन उपमा कांन ॥[4]

—यहाँ प्रसिद्ध उपमानों का निरादर करके सर्वोतम गुणों से युक्त लोचनों का कोई उपमान नहीं है।

---

१. दयाराम सतसई, दो० ७२।
२. दयाराम सतसई।
३. वही, ८१।
४. वही, २५४।

७. भ्रान्तिमान—जहाँ सादृश्यता या समानता के कारण उपमेय में उपमान की भ्रान्ति होती हैं। यथा—

स्यामा तू जिन जाइ सर, बिन घूँघट पट घोस।
परिहें तेरो बदन लखि, भोर कोक मुख सोस ॥[1]

८. व्यतिरेक—जहाँ उपमान की अपेक्षा उपमेय के उत्कर्ष का वर्णन किया जाता है वहाँ व्यतिरेक अलंकार होता है। यथा—

नोंनित तेंहू म्हा मृदु, सदा संत को ऊर।
वे पिघरत पावक परस, ये सुनि पर दुख दूर ॥[2]

—यहाँ उपमान नवनीत से उपमेय सन्त-हृदय को श्रेष्ठ बताया गया हैं।

९. अनन्वय—जहाँ एक ही वस्तु को उपमेय और उपमान भाव से कहा जाय वहाँ अनन्वय अलंकार होता है—

कछु न प्रीय प्रान सों, सो तुमसों नहिं प्रान।
तुम प्यारे इक तुमहिं से, नां पटतर सम आन ॥[3]

—तुम तुम्हीं से प्यारे हो। दूसरा तुम्हारे समान प्यारा नहीं है।

१०. तद्गुण—जहाँ कोई अपना गुण त्यागकर किसी दूसरी वस्तु के उत्कृष्ट गुण को ग्रहण कर ले वहाँ तद्गुण अलंकार होता है। यथा—

प्यारी तेरों अधर रस, क्यों बिसरें नन्दलाल।
बेसर निरमल मुक्तहू जिहि परसत भों लाल ॥[4]

—प्रस्तुत दोहे में बेसर का निर्मल मोती भी अधर के रंग से लाल हो गया है। अधर के उत्कृष्ट गुण का ग्रहण मोती ने किया है।

११. काव्यलिंग—जहाँ किसी बात को सिद्ध करने के लिए उसका कारण वाक्य के अर्थ में कहा जाता है—

भर्यो करस आनन्द रस, नये बिन और लहें न।
भये त्रिभंगी ताहितें, कृष्ण कृपा के ऐन ॥[5]

—यहाँ कलश में भरित आनन्द रस की प्राप्ति झुके बिना नहीं होती है। इसलिए श्रीकृष्ण को त्रिभंगी होना पड़ा है। इसी तरह—

---

१. दयाराम सतसई दो० २४६।
२. वही, दो० ३२८।
३. वही, दो० १४३।
४. वही, दो० २५५।
५. वही, दो ५०४।

कैसे प्यारे लगत हो, कहत न आवत पीय।
कहें दिखावत बानि जो, दै दै होती हीय।।[1]

—यहाँ दिल की बात नहीं कही जा सकती है क्योंकि दिल को तो जुबान ही नहीं है। काव्यलिंग के अन्य सुन्दर उदाहरण भी दयाराम में मिलते हैं।

१२. दृष्टान्त—जहाँ पहले एक बात कहकर उसको स्पष्ट करने के लिए उससे मिलती-जुलती बात कही जाती है वहाँ दृष्टान्त अलंकार होता है। दूसरे शब्दों में कहें तो जहाँ उपमेय, उपमान और साधारण धर्म का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव हो वहाँ दृष्टान्त अलंकार होता है यथा—

ढपें दोष गुन फुट करें, पर हरिजन यह चाल।
लखि शिव दुहु दधि ते लहे, गरल गिल्यो शशि भाल।।[2]

—प्रस्तुत दोहे में 'हरिजन दूसरे के दोषों को ढाँपते हैं और गुणों को प्रकट करते हैं'—इस बात को स्पष्ट करने के लिए उससे मिलती-जुलती शिव के गरल निगलने और भाल पर चन्द्र धारण करने की बात कही गई है। उपमेय, उपमान और साधारण धर्म में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है।

१३. अर्थान्तरन्यास—जहाँ किसी सामान्य बात का विशेष बात से अथवा किसी किसी बात का किसी सामान्य बात से समर्थन किया जाता है वहाँ अर्थान्तर-न्यास अलंकार होता है—

चिंता तूं चित क्यों करें, विश्वंभर व्रजपाल।
सक्कर सक्करखोर को, दधि मधि देत दयाल।।[3]

—यहाँ चित्त! तू चिन्ता मत कर! श्रीकृष्ण जगत के पालक हैं—इसके समर्थन में दूसरी पंक्ति कही गई है। विशेष का सामान्य के द्वारा समर्थन किया गया है।

१४. प्रतिवस्तूपमा—जहाँ उपमान और उपमेय वाक्यों में एक ही धर्म—साधारण धर्म का कथन किया जाता है वहाँ प्रतिवस्तूपमा अलंकार होता है। यथा—

प्रेम प्रभु हूतें प्रथू, बिबुध विचारी लेहु।
कपि सकंध रघुनाथ लिय, सीस चढ़ाय सनेहु।।[4]

—यहाँ पर प्रथम वाक्य उपमान है और दूसरा वाक्य उपमेय है। इनमें एक ही साधारण धर्म—बड़ा विस्तृत व्यापक है। प्रेम ईश्वर से भी बड़ा है।

---

१. दयाराम सतसई, दो० १४५।
२. वही, दो० ४०७।
३. वही, दो० ३४८।
४. वही, दोहा ६३।

हनुमान ने राम को कन्धे पर चढ़ाया और सनेह (प्रेम) को सिर चढ़ाया। साधारण धर्म एक है परन्तु भिन्न शब्दों को व्यक्त किया गया है।

१५. अप्रस्तुत प्रशंसा—प्रस्तुताश्रय अप्रस्तुत के वर्णन को अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार कहते हैं। इसके मुख्य पाँच प्रकार हैं।

कूकर हार चबाव व्हां, आवत लखै गयंद।
भुस भाजै ले समुझि यों, लेगों यह मतिमंद ॥[1]

—यहाँ श्वान के अप्रस्तुत वर्णन के द्वारा उस गरीब आदमी का वर्णन है जो यह समझता है कि उसकी छोटी-सी झोपड़ी के लिए राजा लड़ाई की तैयारी कर रहा है। इसी प्रकार—

सार असार न समझ जिहिं, गुड रू खोल इक तोल।
व्हां सबको सुनिबो गुनि उचित न बदिवो बोल ॥[2]

इसे कुछ आलंकारिक 'अन्योक्ति' भी कहते हैं।

१६. विभावना—जहाँ कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति हो वहाँ विभावना अलंकार होता है। इसके अनेक भेद होते हैं। दयाराम में प्रायः सभी भेदों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। यथा—

पानि पाय न ग्रहे गती, यह बिधि सब कहि ब्रह्म।
प्राकृत नहिं अवयव अखिल, आनन्दमय श्रुति भ्रम ॥[3]

१७. स्वभावोक्ति—जहाँ पर किसी वस्तु अथवा व्यक्ति का चित्रण किया जाता वहाँ स्वभावोक्ति अलंकार माना जाता है। दयाराम ने एक स्वाभाविक मनःस्थिति का सुन्दर चित्रण किया है—

सजल नैन आधे बचन, कहत-कहत सकुचाय।
ललना समुझी लच्छसों, लिय हिय लाल लगाय ॥[4]

—यहाँ गोपी के पास खड़े किशोर कृष्ण की स्वाभाविक मनःस्थिति का बहुत सुन्दर वर्णन है।

१८. यथासंख्य—क्रमशः कहे हुए पदार्थों का उसी क्रम से जहाँ अन्वय होता है वहाँ यथासंख्य, यथाक्रम या क्रम अलंकार होता है—

फनि निवास दिवि सिंधु बिधु, सुधा नाहिं बिधु मूख।
गरल पात अरु क्षार क्षय, पति मृत कंठ पियूख ॥[5]

---

१. दयाराम सतसई, दो० ५२३।
२. वही, दोहा ५६१।
३. वही, दोहा ३३२, २५२।
४. वही, दोहा ६५३।
५. वही, दो० ३२२।

—प्रथम दल में कहे हुए पदार्थों का द्वितीय दल में कहे हुए पदार्थों में क्रमशः अन्वय होता है ।

१९. अनुमान—हेतु के द्वारा साध्य का चमत्कारपूर्वक ज्ञान कराये जाने को अनुमान अलंकार कहते हैं । यथा—

जितौ बिरह संताप, तितौ प्रेम परमानिये ।
यह सनेह को माप, समुझ लेहु अनुमान ते ।।[1]

—यहाँ संताप की अधिकता से प्रेम की अधिकता का अन्दाज लगाने को कहा गया है ।

२०. कारणमाला—जहाँ कारण और कार्य की परम्परा कही जाये, अर्थात् पहले का कहा हुआ बाद के कथन का कारण होता जाय वहाँ यह अलंकार होता है ।

सुख कहाँ बिना मिलाप हरि, हरि कहाँ बिन ब्हे ताप ।
ताप कहाँ बिना शुद्ध रति, रति कहँ बिन सद छाप ।।[2]

—यहाँ सुख का कारण मिलन है, मिलन का कारण विरह-ताप है, विरह-ताप का कारण शुद्ध प्रेम और शुद्ध प्रेम का कारण सत्संग है ।

२१. सार—पूर्व-पूर्व कथित वस्तु की अपेक्षा उत्तरोत्तर कथित वस्तु का उत्कर्ष या अपकर्ष दिखलाना सार अलंकार है । यथा—

सब तें प्यारे प्रान, पत प्यारी हैं प्रांन तें ।
सहि ताहु की हांन, चाखें प्रेम-पियूष जे ।।[3]

—प्रस्तुत दोहे में सबसे प्यारा प्रान बताया और प्रान से प्यारी प्रतिष्ठा को बताया गया है । उत्तरोत्तर वस्तु का उत्कर्ष यहाँ वर्ण्य है ।

२२. मालोपमा—जहाँ उपमेय के अनेक उपमान कहे जायँ वहाँ मालोपमा होती है :—

लोभी कूं जस दाम प्रिय, कामी कूं जस काम ।
जो अस घनश्याम प्रिय हैं, जपिये ताँकों नाम ।।[4]

—यहाँ अनेक उपमानों का तथा उपमेयों का 'प्रियता' समान धर्म कहा गया है ।

२३. उपमेयोपमा—जहाँ उपमेय और उपमान परस्पर उपमेय और उपमान हों वहाँ उपमेयोपमा होती है—

---

१. दयाराम सतसई, दो० २४४ ।
२. वही, दो० ३७३ ।
३. वही, दो० ६५३ ।
४. वही, दो० ६४४ ।

गुँन आभूखन नम्रता, नम्रत भूखन गून।
लोंन मिष्ट जिमि अन्न तें अन्न मिष्ट जिमि लून ॥[1]

—यहाँ गुन और नम्रता में लोन और अन्न में उपमेय-उपमान भाव है।

२४. निदर्शना—विभिन्नता रहते हुए भी जहाँ दो वाक्यों के अर्थ में समता-भाव सूचक ऐसा आरोप किया जाय कि दोनों एक ही जान पड़ें। इसके मुख्य तीन भेद होते हैं—

प्रीति जोरवी सरल पें, करिबों कठिन निभाव।
जैबों जलधी पार परि, बेंठी कागद नाव ॥[2]

—प्रस्तुत दोहे में—'प्रेम का जोड़ना और उसका निभाना' के साथ 'कागज की नाव से समुद्र को तरना' का जो सम्बन्ध है वह असंभव है क्योंकि 'प्रीति जोड़नी' और 'समुद्र तरना' दोनों भिन्न कार्य हैं। अतः यह असम्भव सम्बन्ध प्रीति का निभाना कागज की नाव से समुद्र-तरण के समान कठिन है'—इस प्रकार की उपमा की कल्पना कराता है। यहाँ प्रथम निदर्शना है।

२५. लोकोक्ति—प्रसंग प्राप्त लोक-प्रसिद्ध किसी कहावत के उल्लेख किये जाने को लोकोक्ति अलंकार कहते हैं—

साहस कबू न कीजिए, होई पुनः परिताप।
भयो विचारे बिनहि ज्यों, गहे छछूंदर साँप ॥[3]

—गहे छछूंदर साँप प्रसिद्ध कहावत है।

२६. अतिशयोक्ति—जहाँ पर किसी वस्तु अथवा व्यक्ति के गुणों का वर्णन वास्तविकता से अधिक बढ़ा-चढ़ाकर किया जाय वहाँ अतिशयोक्ति अलंकार होता है—

अलि तेरें पानी छुयो, पानी परस ही लागि।
सुहु सद्कारी भै दही, अगन हु तेरी आगि ॥[4]

—यहाँ ठंडे पानी के पड़ते ही आग बुझ गई—इस वास्तविकता को विरह ताप से संतप्त नायिका के हाथों का स्पर्श पाकर पानी इतना दाहक हो गया कि उसने आग में पड़ते ही आग को भी जला डाला। विरहाग्नि की अतिशयता को बताना ही लक्ष्य है।

२७. उन्मीलित—जहाँ दो पदार्थों के सादृश्य में भेद न होने पर भी किसी कारण भेद का पता लग जाने का वर्णन हो वहाँ उन्मीलित अलंकार होता है—

---

१. दयाराम सतसई, दो० ६२३।
२. वही, दो० १२४।
३. वही, दो० ४४६।
४. वही, दो० २३५।

हे स्मर हर धोखे न हरि विरही हति सर देखि।
गोरे पें गोरी कहाँ हनि सुखेन ढिग पेखि ।।[1]

—यहाँ शिव और कृष्ण दोनों समान वर्ण के हैं इसलिए शिव के धोखे में श्रीकृष्ण को वाण मत मारना क्योंकि शिव के साथ गौरी रहती हैं, कृष्ण के साथ गौरी नहीं है। शिव और कृष्ण के बीच भेद का पता 'श्रीकृष्ण के साथ गौरी के न होने' से लगता है।

२८. सूक्ष्म—किसी इंगित (नेत्र भृकुटि-भंगादि की चेष्टा) या आकार से जाने हुए सूक्ष्म अर्थ (रहस्य) को किसी युक्ति से सूचित किए जाने को सूक्ष्म अलंकार कहते हैं—

आक-पात श्रीफल धर्यो, मुरली बर के पाँन।
ढिग व्हाँ जोरी सखि प्रिया, कंध छुवायो कान ।।[2]

—इस दोहे में चेष्टा और आकार से 'संध्या के पश्चात् वंशीवट में मिलन होगा जिसकी सूचना देकर 'ठीक' है, 'सम्मति' है की सूचना लेकर दूतिका अपने गन्तव्य की ओर जाती है।

दयाराम के दोहों में अलंकार आरोपित नहीं हैं अपितु दोहे की आत्मा के साथ जुड़े हुए हैं। अलंकारों का ऐसा सहज और सरल निरूपण अन्यत्र प्रायः नहीं मिलता है। शब्दालंकारों में दयाराम अवश्य कारीगरी कर गये हैं परन्तु अर्थालङ्कारों में उनका कवि सचेष्ट रहा है। दोनों में एकाधिक अलङ्कार पाये जाते हैं।

□□

१. दयाराम सतसई, दो० २३६।
२. वही, दो० १८९।

१३. छन्द योजना

दयाराम छन्दशास्त्र के ज्ञाता थे। हिन्दी में उन्होंने 'पिंगलसार'[1] ग्रन्थ को रचना कर काव्यशास्त्र के विषयों के साथ छन्दों के लक्षण, उदाहरण भी दिये हैं। स्वयं सतसई में दयाराम कहते हैं—

पिंगल पद्धति देखिके रचना रची अदोष।
तदपि हौंय कछु समझियों, हरि गुन जिन धरि रोष ॥[2]

छन्दों की शुद्धता की दृष्टि से कवि ने शुद्ध शास्त्रसम्मत छन्दों की रचना की है। फिर भी कोई दोष आ गया हो तो उसके लिए नम्रता के साथ क्षमा-याचना की गई है।

सतसई में दयाराम ने 'दोहा', 'सोरठा' और सवैया छन्दों का प्रयोग किया है। सर्वाधिक प्रयोग दोहों का हुआ है। सतसई में सोरठे १२, सवैया १ और ७१७ दोहे मिलाकर ७३० छन्द हैं। यों प्रकाशित सतसई में ७३१ छन्द संख्या है परन्तु उसमें एक दोहा दो बार आया है।[3]

दोहा और सोरठा दोनों मात्रिक छन्द हैं। दोहा को विपरीत कर देने से सोरठा छन्द बन जाता है। दोनों में ४८ मात्राएँ होती हैं अन्तर बस इतना ही है कि जहाँ सोरठे में ११ और १३ पर यति होती है, वहीं सोरठे में ११ और १३ पर यति होती है।

काव्यज्ञों ने दोहे के अनेक भेद वताए हैं। 'प्राकृत पिंगल सूत्र' में दोहे के निम्नलिखित भेद वर्णित हैं—

भ्रमरो भ्रामरः शरभः श्येनः,
मण्डूको मर्कटः करभः
नरो मरालो मदकलः पयोधरश्चलो वानर स्त्रिकलः
कच्छपो मत्स्यो शार्दूलोऽहिवरः
व्याघ्रो विडालः शुनकस्तथा उन्दुरः सर्प प्रमाणः ॥[4]

ये २३ भेद हैं। इनमें एक ही नाम से दो भेद वर्णित हैं। इसलिए जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' कवि ने अपने 'छन्द प्रभाकर' ग्रंथ में इन दोहों को पार्थक्य हेतु अलग-अलग नाम दिये हैं—

भ्रमर, सुभ्रामर, शरभ श्येन मंडूक बखानहु।
मर्कट, करभ सु और नरहिं हंसहि परिमानहु ॥

---

१. दयाराम काव्य मणिमाला भाग ६ (गुजराती में)
२. सतसई ७३०। ३. देखिए दोहा संख्या २२६, ६२६।
४. प्राकृतपिंगल सूत्रम् पृ० ३७ निर्णय सागर प्रेस।

गनहु गयंद सु और पयोधर बल अवरेषहु।
बानर त्रिकल प्रतच्छ कच्छपहू मच्छ विशेषहु ।।
शार्दूल सु अहिवर ब्याल जुतवर विडाल अरु स्वान गनि।
उद्दाम उदर अरु सर्प सुभ तेइस बिधि दोहा बरनि ।।[1]

दोहों के संविधान में अक्षर २६ से ४८ होते हैं जो क्रमशः एक-एक बढ़ते जाते हैं। गुरु २२ से शुरू होकर क्रमशः घटते-घटते शून्य तक पहुँच जाता है इसी तरह ४ से शुरू होकर क्रमशः दो-दो संख्या में बढ़कर लघु ४८ की संख्या तक पहुँचता है। इनके कारण दोहों की संख्या २३ होती है। देखिए—

षड्विंशत्यक्षरो भ्रमरो गुरवो द्वाविंशतिर्लघवश्चत्वारः।
गुरुस्त्रुट्यति द्वौ लघू वर्धते तन्नाम विचारय।[2]

गणप्रस्तार प्रकाशकार ने इन दोहों के नामों को पक्षियों के नामों के साथ जोड़ा है और २० भेद बताये हैं।

उपर्युक्त २३ भेदों में भ्रमर, श्येन, व्याघ्र, विडाल, उदर और सर्प को छोड़कर शेष सभी भेदों का प्रयोग दयाराम सतसई में मिलता है। इन दोहों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित तालिका में दिया गया है—

भेद	अक्षर	गुरु	लघु
१. भ्रामर	२७	६	२१
२. शरभ	२८	२०	८
३. मण्डूक	३०	१८	१२
४. मर्कट	३१	१७	१४
५. करभ	३२	१६	१६
६. नर	३३	१५	१८
७. मराल	३४	१४	२०
८. मदकल	३५	१३	२२
९. पयोधर	३६	१२	२४
१०. चल	३७	११	२६
११. वानर	३८	१०	२८
१२. त्रिकल	३९	९	३०
१३. कच्छप	४०	८	३२
१४. मत्स्य	४१	७	३४
१५. शार्दूल	४२	६	३६
१६. अहिवर	४३	५	३८
१७. शुनक	४६	२	४४

१. छन्द प्रभाकर पृ० ८५ सं० १९७९ संस्करण।
२. प्राकृतपिंगल सूत्रम्, पृ० ३७।

उपर्युक्त दोहों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करने से पूर्व यह कहना अनुचित न होगा कि दयाराम ने अनेक छन्दों का प्रयोग किया है और प्रस्तुत पाठ में जो कहीं पाठान्तर आये हैं उनके कारण भी छन्द प्रयोगों में थोड़ा बहुत परिवर्तन आ सकता है।

१. भ्रामर—इस छन्द में २७ वर्ण होते हैं जिनमें ६ लघु और २० वर्ण गुरु होते हैं—

कं कं कं कं कं कं किं, खं खं खं खं खाख।
गो गो गा गे गाग गो, लली लाल ले लाल ॥[1]

२. शरभ – इस छन्द में २८ वर्ण होते हैं जिनमें ८ लघु और २० वर्ण गुरु होते हैं—

नै नै नैंनी नै, नेंना नांन न नून।
नौ नाना नें नानु ना, नानन नृ नृ नून ॥[2]

३. मण्डूक—इस छन्द में ३० वर्ण होते हैं जिनमें १२ लघु और १८ वर्ण गुरु होते हैं—

बारी बारी बारियें, बारी लों दें बारि।
फिरि बारि दै बारि जनु, बारिद लों बनवारि ॥[3]

४. मर्कट—इस छन्द में ३० वर्ण होते हैं जिनमें १२ लघु और १८ वर्ण गुरु होते हैं—

दारा निंदा संपदा, परजन जिन करि प्यार।
प्यारी सोई प्रान लें, जेंसी भाट कटार ॥[4]

५. करभ—इस छन्द में ३२ वर्ण होते हैं जिनमें १६ वर्ण लघु और १६ वर्ण गुरु होते हैं—

बल्लभ तें दुर्लभ कहा, सब ही जाके हाथ।
जंगल में मंगल करें, बाबा बिट्ठलनाथ ॥[5]

६. नर—इस छन्द में ३३ वर्ण होते हैं जिनमें १८ लघु वर्ण और १५ वर्ण गुरु होते हैं—

श्री राधावर जाहि बस, ता पद पुष्कर खेह।
बंदन करि माँगू सदा, तापे नूतन नेह ॥[6]

७. मराल—इस छन्द में कुल ३४ वर्ण होते हैं जिनमें २० लघु वर्ण और १४ वर्ण गुरु होते हैं—

श्रुति नेती मनगो अगम, त्रिगुन अक्षरातीत।
सो श्री गोपीनाथ कों, अभिवादन अगनीत ॥[7]

८. मदकल—इस छन्द में ३५ वर्ण होते हैं जिनहै २२ वर्ण लघु और १३ वर्ण गुरु होते हैं—

---

१. दयाराम सतसई ७१३। २. वही, ७१०। ३. वही, १५७।
४. दयाराम सतसई ३६७। ५. वही, २। ६. वही, ५। ७. वही, ३।

चलि कहाँ, बोलें, कोंन, पिय, क्यों, तो बिन कल नांहि ।
घनि हें, रुचि नहि, मौलि रखि-राधे ! ते तुव छांहि ।।[1]

९. पयोधर—इस छन्द में ३६ वर्ण होते हैं जिनमें २४ लघु और १२ वर्ण गुरु होते हैं—

श्री गुरु वल्लभ देव अरु, श्री विट्ठल श्री कृष्ण ।
पद पंकज बंदन करों, दुखहर पूरन-तृष्ण ।।[2]

१०. चल—इस छन्द में ३७ वर्ण होते हैं जिनमें २६ वर्ण लघु और ११ वर्ण गुरु होते हैं—

श्यामा आनन ससि लखन, चकोर तरसत नाह ।
मान परब केतों अज्यों, टरत न घूँघट राह ।।[3]

११. बानर—इस छन्द में कुल ३८ वर्ण होते हैं जिनमें २८ वर्ण लघु और १० वर्ण गुरु होते हैं—

बच न फेरियें बड़न की, अमल समल तहु होहि ।
कृष्ण कृष्ण आयसु करी, अनघ रहे कुल द्रोहि ।।[4]

१२. त्रिकल—इस छन्द में ३९ वर्ण होते हैं जिनमें ३० वर्ण लघु और ९ वर्ण गुरु होते हैं—

फनि-निवास दिवि, सिंधु बिधु, सुधा नाहि बिधु मूख ।
गरल, पात, अरु क्षार, क्षय, पति मृत, कंठ पियूख ।।[5]

१३. कच्छप—इस छन्द में ४० वर्ण होते हैं जिनमें ३२ वर्ण लघु और ८ वर्ण गुरु होते हैं—

सिमल सुमन स्त्री सैल लगि, रम्य समर-वत दूर ।
कृष्ण सुमन सरवत्र इक, लखि असमीप हजूर ।।[1]

१४. मत्स्य—इस छन्द में ४१ वर्ण होते हैं जिनमें ३४ वर्ण लघु और ७ वर्ण गुरु होते हैं—

पनघट पनघट जाय पन, घट पनघट को ध्यांन ।
पनघट लाल चढ़ाय दें, अलि पनघट सुख खांन ।।[2]

१५. शार्दूल—इस छन्द में ४२ वर्ण होते हैं जिनमें ३६ वर्ण लघु और ६ वर्ण गुरु होते हैं—

कहत लहत ही पिसुन भल, बलहु न होत प्रकास ।
अस लख लख भवकेहु हरि, गहत नाउँ पद नास ।।[3]

१६. अहिवर—इस छन्द में कुल ४३ वर्ण होते हैं जिनमें ३८ वर्ण लघु और ५ वर्ण गुरु होते हैं—

---

३. दयाराम सतसई, २१७ । ४. वही, १ । ५. वही, २५० । ६. वही, २६३ । ७. वही, ३२२ । १. वही, ४५५ । २. वही, ७७ । ३. वही, ३४० ।

मन विचार पल-पल पृथक, अकथ सकत कथि कांन ।
जिमि कुसअनि उषकनि बरन, पलटें अति भामान ॥[1]

१७. शुनक – इस छन्द में ४६ वर्ण होते हैं जिनमें ४४ वर्ण लघु और २ वर्ण गुरु होते हैं—

समर समर मन सरस छब, नटवर नगधर कृष्ण ।
जस पदपय हर सिर धरत, अघहर भर सब त्रष्ण ॥[2]

दयाराम के दोहे छन्द शास्त्र की दृष्टि से शुद्ध हैं । दयाराम ने अपनी प्रतिज्ञा का पालन पूर्णतः किया है । केवल २६, २९, ४४, ४७ और ४८ वर्ण वाले दोहों के भेदों का प्रयोग नहीं मिलता है । कुछ संशोधन और परिवर्द्धन के कारण इन प्रभेदों के उदाहरण भी भविष्य में मिलने की संभावना है ।

'दोहा' के अतिरिक्त दयाराम ने सतसई में सोरठा छन्द का भी प्रयोग किया है । कुल १२ 'सोरठा' मिलते हैं । सोरठा छन्द में ११ और १३ मात्राएँ होती हैं । प्रथम चरण और तीसरे चरण में अन्त्यानुप्रास होता है और इस अनुप्रास में एक गुरु और एक लघु होता है । अब दयाराम के कुछ सोरठों पर दृष्टिपात करें :—

(१) लोक लाज कुल वेद, छूटे सबे बिबेक बल ।
परे ह्रदे जब छेद, दुसह प्रेम के बान को ॥
(२) जब तरुवर की फूल, तब वाकों फल होत हें ।
वे लखि नर मत भूल, जो फूल्यों तों फल गयों ॥[3]

उपर्युक्त उदाहरणों में सोरठा छन्द के नियमों का पूरा-पूरा पालन हुआ है । यति और अन्त्यानुप्रास दोनों चुस्त और दुरुस्त हैं । यहाँ कवि ने यदि विधान किए हैं तो उनका सुदृढ़ प्रतिपादन भी किया है ।

सतसई में दयाराम ने सवैया छन्द का एक प्रयोग किया है । इसमें सात भगण और अन्त में गुरु है । यथा—

लाभ सवाद सबे जस सेवत, श्रीवर पूरन सोलकला
दाम न काम अयास कछू रसना जस गात सुसिद्ध फला ॥
धन्य सुभाग कहे त दयो जु सिरोमनि मानत नन्दलला ।
लाभ सदा सरदार धनी सु सुनी, धर दार सदा समला ॥[4]

ऊपर दिए गए छन्दों से यह स्पष्ट हो जाता है कि दयाराम का छन्दों पर पूरा अधिकार था । उनके छन्द शुद्ध और सही हैं तथा उनमें पर्याप्त लाघव मूर्त-कल्पना और सटीक विधानों के दर्शन होते हैं ।

ऽ ।। ऽ ।। ऽ ।। ऽ ।। ऽ ।। ऽ ।। ऽ ।। ऽ ।।
१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८

---

१. दयाराम सतसई, ५१३ । २. वही, ७०९ ।
३. वही, ६७, ४६३ । ४. वही, ७२१ ।

